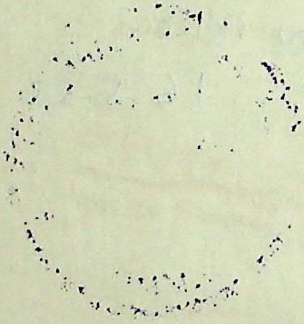
धुंधलके

(कहानियाँ)

दीदार सिंह

Donated by B.N. Bhan
Gen: Society 16-5-83



धुंधलके

(कहानियां)

दीदार सिंह

DHUNDALKE 'C' Didar Singh

प्रकाशन वर्ष :—मार्च—1973

प्रकाशक :—मल्होत्रा ब्रदर्ज़, पक्का डंगा, जम्मू तवी।

मुद्रक :—अमर आर्ट प्रैस, मोती बाज़ार जम्मू तवी।

कीमत : - छः रुपये

पुस्तक प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता के लिए ललित-कला संस्कृति तथा साहित्य अकादमी जम्मू कश्मीर का धन्यवाद

—लेखक

क्रमावली

समर्पित उनको :—

जो कुछ कह नहीं सकते,

किन्तु सहते हैं।



प्रस्तावना

जीवन एक प्रक्रिया है और इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप वह सदैव विकसित होता रहता है अतः जीवन में संघर्ष अनिवार्य है। यह संघर्ष कभी वाह्य वातावरण अथवा परिस्थितियों से रहा है और कभी आन्तरिक प्रवृत्तियों से ही अर्थात् अपने आप से ही। साहित्य जीवन का दर्पण होने के नाते इसी संघर्ष को प्रतिबिम्बित करता आया है। स्वतन्त्रता मिलने से पूर्व यह संघर्ष स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चलता रहा और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक सतुलन तथा सामंजस्य स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् जहां हमारे विचार-क्षेत्र विस्तृत हुए वहां बौद्धिकता का प्राधान्य होने के कारण व्यक्ति अधिक-से-अधिक अन्तर्मुखी होता गया। समयाभाव के कारण हमारे सामाजिक सम्बन्ध सीमित होते जा रहे हैं। हड़ताल तथा प्रदर्शनो के लिए हम चाहे सारे एकत्र हो जाएं—क्योंकि वहां अपना कुछ-न-कुछ स्वार्थ होता है—लेकिन किसी दीन-दुःखी से आंख बचाकर निकल जाने का प्रयास करेंगे। ज्यों-ज्यों विश्व सिकुड़ता जा रहा है त्यों-त्यों हम अपने हो

अन्तर्द्वन्द्व के दायरे में घिरते जा रहे हैं। समय की आवश्यकतानुसार मैं भी कम-से-कम शब्दों में कुछ कहानियां पाठकों की मेवा में प्रस्तुत करता हूँ। इन कहानियों में भी आपको कहीं-कहीं वही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति प्रधान मिलेगी। ऐसी अवस्था में किसी ठोस कथानक का प्रायः अभाव-सा होता है और इसकी चर्म सीमां वहीं आकर समाप्त हो जाती है जब कहानी का प्रधान पात्र कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेता है।

अपनी कहानियों के विषय में मैं स्वयं कुछ कहना उचित नहीं समझता। इसका निर्णय तो स्वयं आप ही करेंगे। यदि ये कहानियां आप के अन्तर्मन को छू जाएं तो मैं अपना प्रयास सफल समझूंगा।

दीदार सिंह

मार्च 1973

17-सी करन नगर
जम्मू तवी

मांग का सिन्दूर

आज जब मुझ में ज़रा चलने फिरने की हिम्मत हुई तो यों ही चलती-चलती ड्रेसिंग रूम में जा कर दर्पण के सामने खड़ी हो गई। हे भगवान्! यह मेरा चेहरा है! आज पहली बार मुझे अपने चेहरे से डर लगने लगा। इतने भयानक चेहरे की मैंने तो कभी कल्पना भी न की थी। ये आंखें बीच को धंसी हुई, गाल पिचके हुए और पीला ज़र्द रंग--उफ़, इतनी भयानक शक्ल। आज मुझ से अपनी ही शक्ल नहीं देखी जाती। रंग इतना फीका पड़ गया। एक मांग के रंग बिना सारे चेहरे का रंग फीका। इस मांग में आज सिन्दूर होता तो यह चेहरा यों पीला न पड़ता। सिन्दूर की ल लो सारे चेहरे पर बिखरी होती। यह सूनी मांग कब तक! क्या यह सूनी ही रहेगी! सूनी ही जाएगी!! कितने बरस बीत गये—इन्तज़ार, लम्बा इन्तज़ार लेकिन कब तक! यह विश्वास कब तक साथ देगा! कैसा समय का परिवर्तन है। आज मैं स्वयं को ही नहीं पहिचान पा रही—यों ही समय बीतने पर लोग एक दूसरे को पहिचानना छोड़ देते हैं। कितने दिनों के बाद इस कमरे में आई हूं—कमरे की सभी चीज़ें वहीं की

वहीं पड़ी हैं—सब चीज़ें वैसी की वैसी हैं—लेकिन मैं !…मेरा रूप इतना बदल गया !

उफ़, यह कैसा रोग है ! जिसने मुझे यों चूस लिया, मेरा सब कुछ ले लिया—मेरी खुशियां, मेरा प्यार। मेरा ····

सब कुछ सहा मैंने, सब कुछ सह रही हूं -दिल पर पत्थर बान्ध कर और कब तक सह सकूंगी ! मेरा अपना आप मेरे हाथों से छूटा जा रहा है—यह मेरा रूप…इसमें और सहने की शक्ति है ?

वह पागल है—बिल्कुल पागल है जो मुझ से अब भी प्यार करता है। उसे नहीं मालूम कि मैं वह नहीं रही। वह मुझे अब भी वैसी समझता होगा—जब मैं ही खुद को देख कर डर गई तो वह

वह पगला अब भी लिखता है—तू चिन्ता न कर। तू जल्दी ही ठीक हो जाएगी। तू मुझे हर रूप में स्वीकार है। तू मेरी है—तुम चुप क्यों हो गई।…तुम उत्तर क्यों नहीं देती !

क्या उत्तर दूं ? यही कि जीवन के किनारे पर खड़ी जीवन की भिक्षा मांग रही हूँ, यही कि मेरी सूनीं मांग सिन्दूर के लिए सुलग रही है। उसने मुझे पा लिया लेकिन मैं उसे नहीं पा सकती। मैं तो उसे अपना कहने से भी खौफ़ खाती हूं—इस अधिकार से खौफ खाती हूँ। पहले मैं उसे निःसंकोच 'अपना' कह लेती थी लेकिन इस क्षय-रोग ने आकर मेरे होठों पर अपना हाथ रख दिया, अब मैं क्षय-रोग की हूं। उसे अपना कहने को अब मेरे होंठ कांपते हैं, लरज़ते हैं। नहीं ! मैं उसे 'अपना' नहीं कहूँगी—मैं उसे प्यार के बदले दुःख नहीं दूंगी।

आह मुझसे खड़े नहीं हुआ जाता। यह…यह…मैं…मैं मुझे

"'मुझे क्या हो रहा है ! हे राम"'

"दीदी तुम्हें कितनी बार कहा कि यों अकेली अपने कमरे से बाहर न निकला करो। मुझे क्यों नहीं बुला लिया, मैं कहीं दूर तो नहीं थी।"

"मैं गिर पड़ी थी ?"

"और क्या ! तुम्हें किसी चीज़ की ज़रूरत थी तो मुझे कहती, मैं वहीं ला देती, न जाने कब से यहां बेहोश पड़ी हो।"

"दीप्ति, मैं तुम्हें बहुत परेशान करती हूँ न आखिर कब तक मेरी देख-भाल करती रहोगी ? कोई काम तो मुझे खुद करने दिया करो।"

"देख लिया न खुद काम करने का नतीजा !"

"पापा आ गये ?"

"नहीं अभी।"

"मां ?"

"बाज़ार गई हैं।"

"नाराज़ हो मुझ से ?"

"दीदी तुम से भी कोई नाराज़ हो सकता है ? बस एक बार दीदी तुम अच्छी हो जाओ तो इस घर की सारी खुशियां लौट आएं।"

"अगर अच्छी न हुई तो ?"

"दीदी कैसी बातें करती हो तुम ! चलो अपने कमरे में आराम से लेट जाओ।"

अब मैं आराम से लेट नहीं सकती। इस चारपाई से न जाने कब की ऊब चुकी हूं—मैं आराम से चलना-फिरना चाहती हूँ—लेटने में मुझे बे-आरामी होती है—फिर भी लेटना पड़ता है। मन और शरीर में सामंजस्य नहीं रहा। वे अब एक दूसरे का साथ नहीं देते। 'तुम से भी कोई नाराज़ हो सकता है अंजलि!' अब तुम से कोई नाराज़ नहीं होता, कोई नहीं लड़ता-झगड़ता, मृत-लोगों के प्रति सभी श्रद्धा-भाव दिखाते हैं। अब 'वह' भी मुझ से नहीं लड़ता-झगड़ता। दीप्ति ने उसे सब कुछ लिख दिया होगा। तभी उसे भी मुझ पर तरस आ रहा है, पापा को भी मुझ पर तरस आता है, मां को भी और दीप्ति को भी। लेकिन इस क्षय-रोग को नहीं। आज मैं इन सब की दया-दृष्टि की पात्री हूं।

"अंजलि !"

"कौन-कौन, तुम ! अमर !"

"हां, मैं हूँ। इतनी चकित क्यों हो रही हो ?"

"तुम, तुम यहां कैसे ?"

"क्या मेरा आना तुम्हें अच्छा नहीं लगा ?"

"लेकिन तुम, तुम्हें…"

"मुझे दीप्ति ने बुलाया था, मुझे उसने सब कुछ बता दिया है…"

"क्या बता दिया है ? दीप्ति ! कहां है दीप्ति ?"

"ओ हो तुम इतनी नाराज़ क्यों होती हो, वह "

"क्या बात है दीदी ? अमर बाबू से इतनी बिगड़ क्यों रही हो ? दूर से आए अतिथि का यह स्वागत् !"

"दीप्ति ! अमर को तू ने बुलाया ?"

"हां।"

"क्यों ?'

"क्योंकि तुम उनसे मिलना चाहती थी।"

"तुझ से मैंने कब कहा ?"

"कहा तो नहीं लेकिन दिल की बात जबां पर आ ही जाती है। तुम कल बेहोशी में बार-बार इनका नाम ले रही थी, मैं ने इन्हें तार देकर बुला लिया।"

"यह तुमने क्या किया दीप्ति ! तुम नहीं जानती···तुम नहीं जानती मैं··"

"घबराओ नहीं अंजलि, तुम जल्दी ठीक हो जाओगी।"

"कैसी झूठी तसल्ली है," मैंने मन में सोचा। लेकिन कहा कुछ नहीं।

"देखिए न अमर बाबू दीदी ने क्या हालत बना रखी है। यह मुझ से नहीं बल्कि अपने-आप से उलझ रही है। आप बैठिए मैं आप के लिए चाय लेकर आती हूँ।"

"कैसी हो अंजलि ?"

"... ... ...।"

"... ... ··· नाराज़ हो ?"

"... ... ...।"

"मैं जानता हूँ सब कुछ··· ···

"क्या सब कुछ जानते हो," मेरे मन ने सवाल किया।

" ·· मैंने कहा था न तुमसे, तुम मुझे हर रूप में स्वीकार हो। तुम अब भी मेरे लिए वही चंचल नटखट अंजलि हो···· प्यार शरीर से ही नहीं होता, प्यार मन से और मन की भावनाओं से भी होता है—हम किसी के ख्यालों से भी प्यार करते हैं, करते हैं न अंजलि ! तुम्हारी भावनाएं तो वही हैं—अब तो उनमें और तीव्रता आ चुकी होगी ··· ··· ।"

और मेरी भावनाओं का बांध टूट गया मैं अमर की बाहों में सिसकने लगी—मैंने कुछ नहीं कहा– मेरी हालत से मेरी बात स्पष्ट थी—और रही-सही कसर मेरे आंसुओं ने पूरी कर दी थी। अब तो आंसू भी सूखते जा रहे थे– वे भी कब तक साथ दे सकते थे ?

दो दिन के बाद मैंने घर में कुछ नई हलचल देखी। कुछ चीज़ें इधर से उधर रखी जा रही थीं। कुछ महिमान भी आने शुरू हो गये कुछ सामान भी आने लगा। मैंने दीप्ति से पूछा :–

"ये सब क्या हो रहा है ?"

"शादी।"

"किसकी ?"

"तुम्हारी।"

"दीप्ति ! क्यों मज़ाक करती हो !"

"मज़ाक नहीं कर रही, सच कह रही हूं।"

"किसके साथ ?"

"अमर के साथ, और किसके साथ।"

"क्या बकती हो दीप्ति !"

"तुम्हारी मर्ज़ी के बिना कोई काम नहीं हो रहा।"

"मेरी मर्जी !"

"हां, तुम ही तो बेहोशी में बड़बड़ा रही थी।"

"क्या ?"

"मैं मरना नहीं चाहती-- मैं सुहागन होकर मरना चाहती हूँ"...

ओह बेहोशी-बेहोशी, यह बेहोशी भी क्या बला है ! जो बात मैं ज़ुबान पर भी नहीं लाना चाहती वही बेहोशी में कह जाती हूँ। यह ठीक है कि मैं मरना नहीं चाहती—और मरने से पहले मांग में सिन्दूर भरना चाहती हूं—लेकिन यह सब कुछ मैं कैसे कह गई ! मुझे मौत से डर लगता है---क्योंकि मौत के बाद सब कुछ छिन जाएगा—अमर, पापा, मां, दीप्ति और सब कुछ ! मैं इन सब से और इन सब की यादों से जुदा होना नहीं चाहती। मैं बीमार सही तो क्या-- मैं बिस्तर से उठ नहीं सकती तो क्या—अमर की हो नहीं सकती तो क्या—ये सब कुछ मेरे पास तो है—सब का अस्तित्व मैं देखती और अनुभव तो करती हूं।

तो क्या मैं सचमुच अब मरने वाली हूँ—जो ये मेरी अन्तिम इच्छा पूरी कर रहे हैं ? मैं मरना नहीं चाहती, यह एक बात है। मैं सुहागन होकर मरना चाहती हूं, यह दूसरी बात है। दो में से कौन सी बात हो रही है ? क्या डाक्टर ने अपनी अन्तिम घोषणा कर दी है कि मैं चन्द दिनों की मेहमान हूँ ? क्या ये लोग मेरी मांग में सिन्दूर भर के मुझे विदा करना चाहते हैं ? क्या मैं अन्तिम समय इतनी स्वार्थी बन जाऊं कि अपनी इच्छा पूरी करने के लिए अमर को उम्र भर के लिए ··· ···

नहीं ···। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए। मैं इन्कार कर दूंगा ··· ··· मैं यह नहीं होने दूंगी।

"अमर, यह मैं क्या सुन रही हूँ ?"

"ठीक हो तो सुन रही हो, तुम्हें खुश होना चाहिए।"

"क्या तुम भी मुझे विदा करने वालों में शामिल होना चाहते हो ?"

"अंजलि, कैसी बातें करती हो। मैं तो तुम्हारे जीवन की भीख मांगने के लिए ऐसा कर रहा हूँ। शायद हमारा विवाह होने से तुम अच्छी हो जाओ।"

"क्यों झूठी तसल्ली देते हो ?"

"नहीं अंजलि विश्वास रखो जब तुम सुहागन हो जाओगी तो भगवान् को तुम्हारे साथ मेरी प्रार्थना भी सुननी होगी।"

"वह तो यों भी सुन सकता है"

"लेकिन पहले तुम अकेली थी न, अब हम दो हो जाएंगे। मैं स्वयं तुम्हारी देख-भाल करूंगा और तुम जल्दी ठीक हो जाओगी।"

"नहीं अमर मुझे इतनी जल्दी विदा मत करो।"

"अंजलि मैं तुम्हें विदा नहीं कर रहा बल्कि तुम्हारे पास आ रहा हूँ—तुम्हें अपने साथ मिला रहा हूँ।"

मौत की सज़ा वाले क़ैदी की अन्तिम इच्छा पूरी की जाती है—मेरी भी अन्तिम इच्छा पूरी की जाने लगी। लेकिन मेरे मन का बोझ और बढ़ता जा रहा था। लड़के अपनी हर ज़िद्द पूरी कर लेते हैं—लेकिन लड़कियां बहुत कम। यह भावुकता भी क्या बला है—किसी को अपना भला-बुरा नहीं सोचने देती—अधमरी लड़की को मंडप पर बिठाया जा रहा है—दवाइयों से तो ठीक हो नहीं सकी—दुआओं का भी कोई असर नहीं हुआ—अब शादी के मन्त्र पढ़ कर

मुझ में जीवन फूंका जाने लगा है—या जाते-जाते यह संस्कार भी पूरा किया जा रहा है—ताकि भगवान् को मैं अपने माथे का सिन्दूर दिखा सकूं।

उफ़ मैं तो बैठे-बैठे थक गई हूँ—अब और नहीं बैठा जाता। ये फेरे शुरू हो गये लेकिन मेरे तो पांव लड़खड़ा रहे हैं—ये लोग मुझे सहारा न दें तो मैं अभी नीचे गिर जाऊं। कितने फेरे बाकी हैं? मेरा सर क्यों चकराने लगा—ये मंडप घूम रहा है? कि मैं घूम रही हूं? ये सब लोग मेरे चारों ओर घूमते लग रहे हैं ... ... यह क्या हुआ! मैं तो गिरती जा रही हूं ... ... कोलैप्स हो रही हूँ—उफ ये शोर कैसा! ये मां की चीखें हैं—नहीं दीप्ति चिल्ला रही है ... ... "अंजलि!' यह मुझे किसने पुकारा? यह तो किसी को फिट पड़ रहे हैं—कोई मुझे पागलों की भांति पुकार रहा है ... ... जैसे किसी का सब कुछ लुट रहा हो—

हां, यह तो अमर की आवाज़ है। ओह कितनी पीड़ा और व्यथा है इन आवाजों में? मुझ से नहीं सुनीं जातीं ... ... मुझ से नहीं सही जातीं यह कैसी द्विधा सी है—वह लग्न-वेदी, वह मंडप, वे लोग—सब कहां हैं—किधर रह गये? उनकी आवाजें तो आ रही हैं ... ... लेकिन दिखाई कुछ नहीं दे रहा ... ... हां, जैसे वे आवाज़ें पीछे छूटती जा रही हों—मुझ से दूर होती जा रही हों ... ... ओह वे तो और भी मध्म पड़ गईं ... ... दूर रह गईं ... ... पीछे ... ... बहुत पीछे ... ...

....और मैं देखता रहा

एम्बूलेंस की गाड़ी एमजैंसी हस्पताल में पहुँची तो हमें शीघ्र ही स्ट्रैचरों पर लाद कर आप्रेशन-थियेटर में पहुँचाया गया और जैसे जैसे मरहम-पट्टी हो सकी, की गई क्योंकि वहां पूरा सामान कहां था और इतना स्थान एवं स्टाफ कहां था जो सभी घायलों का यथोचित उपचार करता। हैलीकाप्टर द्वारा वहां से सब को तेज़पुर पहुँचाया जाता और वहां से हवाई जहाजों द्वारा विभिन्न स्थानों पर पहुंचाया जाता। 'सीरियस केसिज़' को पहले भेजा जाता और उनमें मैं भी एक था।

देहली पहुँच र मेरे अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण किया गया और कुछ एक्सरे भो लिये गये। मुझे चार गोलियां लगी थीं—एक कन्धे से पार निकल गई थी, एक जांघ से पार, एक गुटने पर और एक कनपटी को छीलती हुई निकल गई थी। रक्त बहुत बह गया था। सबसे अधिक कष्ट मुझे गुटने पर था, फिर भी मुझे खतरे की सीमा से बाहर घोषित किया गया था। गुटने पर प्लासटर कर दिया गया और शेष मेरे साथ वहां क्या हुआ, इसकी मुझे स्मृति नहीं। स्मृति है तो उस असह्य पीड़ा की जो मुझे कभी अर्ध-चेतन और कभी चेतन

कर देती थी, और स्मृति है उस आत्मपीड़ा की, उस उपेक्षा की और उस अभाव की जो मैं ने वहां अनुभव किया।

ज्यों-ज्यों समाचार मिलते गये, लोग अपने सम्बन्धियों को देखने पहुंचते और वहां खूब भीड़ एकत्र होने लगी। कुछ मरीज़ों के रिश्तेदारों की, कुछ उन लोगों की जिनका कोई-न-कोई व्यक्ति सैना में था और वे इस शंका से आए थे कि कहीं उनमें से तो कोई नहीं आया या उन का कुछ पता चले, और कुछ उन लोगों की भीड़ थी जो केवल देखने आ गये थे—दया-भाव से अथवा श्रद्धा-भाव से।

प्रत्येक घायल का कोई-न-कोई सम्बन्धी, और कुछ के कई सम्बन्धी आ गये थे। किसी के माता-पिता, किसी की बहिन, किसी की पत्नी, किसी की प्रिया और किसी का भाई या मित्र, सभी थे। कोई रो रहा था 'अपने' घायल को देखकर, साथ ही प्रसन्न भी था कि वह बच तो गया, देखने के लिए। कोई सहानुभूति जता रहा था और कोई घाव को अपना घाव समझ कर घायल से भी अधिक दु:ख अनुभव कर रहा था। लेकिन मैं—मैं अकेला था। मुझे "कोई" नहीं देखने आया। किसी ने सहानुभूति नहीं जताई—दु:ख नहीं पूछा और पास आकर नहीं बैठा—सिवाये डाक्टरों और नर्सों के। आता भी कौन? था भी कौन? और मेरा सैना में भरती होना भी 'किसी' का न होना ही एक कारण था। मैं भाग गया था घर से - अपने शरीकों से और सैना म चला गया था। जब मैं ही भाग गया था तो आता कौन? मां? या पिता? लेकिन, लेकिन स्वर्ग से भी कभी कोई लौटता है? भाई बहिन कोई था नहीं। और वह - सु ऊह। वह न जाने कहां थी। किसकी थी, थी भी या नहीं। और फिर उसे

क्या मालूम कि मैं यहां था—मालूम हो तो शायद—शायद आ भी जाती और—और किसी को क्या जरूरत थी जो आता—मेरा और कौन सगा था ?

कोई नहीं था। मैं अकेला था। लेकिन मेरे इर्द-गिर्द और झुरमट थे। मैं उन्हें देखने लगा—निहारने लगा एक तृष्णा से, अभाव से उत्सुकता से और कभी-कभी ईर्ष्या से। कभी-कभी मैं भूल जाता कि मैं अकेला हूं और पास वाले संतोख को खुद समझ लेता—उसके पास खड़ी युवती, जो उससे बातें कर रही थी, ऐसा लगता मुझ से बातें कर रही है—परिहास कर रही है। कभी मुझे लगता मेरी मां सिरहाने खड़ी है और बहुत दुःखी है। कह रही है "बेटा ! इतने घाव ? मैं कुरबान जाऊं, कैसे लगे ?" मुझे याद आया बचपन का वह क्षण। वह क्षण जब महेश ने मेरे गुटने पर हाकी मारी थी और रक्त बह उठा था—मामूली सा—लेकिन मां बहुत दुःखी ही नहीं हुई थी अपितु महेश की मां से खूब लड़ कर आई थी। मुझे याद आया बचपन का वह क्षण जब एक बार भागते-भागते पांव में मोच आ गई थी। मां ने एक सप्ताह तक उठने नहीं दिया था। मुझे याद आया वह क्षण जब एक बार कलम घड़ते ज़रा सा ब्लेड लगने पर उसने—सु—ने अपना दोपट्टा फाड़ कर पट्टी बांध दी थी। और आज, आज उनमें से कोई भी होता तो उन पर क्या बीतती और मुझे कितना आराम आता।

मेरे पास ही करनैल था—उसे पहाड़ी से फिसलते हुए बहुत सी खराशें आ गई थीं और एक बाजू की हड्डी टूट गई थी—लेकिन उसके इर्द-गिर्द सभी खड़े यही अनुभव कर रहे थे—उसे कह रहे थे—

कि उसे सब से अधिक चोटें आयी हैं। लेकिन मेरी ......? कौन पूछेगा ? किसे बताता ? कोई नहीं था। एक बच्चा किलकारियां मार रहा था। और मैं घड़ी भर के लिए उसमें खो गया—ऐसा लगा कि मुझ से वह मेरा हाल पूछ रहा है—और यही सोच कर मैं कुछ पल अपना दुःख भूल गया—मुझे सान्त्वना मिली।

हर आने-जाने वाले पर मेरी नज़र टिक जाती—उत्सुकता से, आशा से और एक सम्भावना से। मुझे आवश्यकता थी—उस समय किसी के मीठे वचनों की, सहानुभूति की, सद्भावना की और—और की। एक लड़की जो शायद कोई सोशल वर्कर थी, ने मेरी ओर ठिठक कर देखा और आगे निकल गई। मेरी आंखों ने उसे मूक निमन्त्रण दिया—कि आओ पूछो क्या पूछती हो—मेरा हाल न सही, यों ही कुछ पूछो पर उसने स्वीकार नहीं किया।

"हाउ आर यू नम्बर सेवन ?" यह नर्स की आवाज़ थी, जिसने मुझे चौंका दिया। यह 'नम्बर' सुनकर मुझे बहुत खीझ आई। मेरा नाम नहीं है ? वह किस लिए रखा गया है ? नम्बर, नम्बर और नम्बर—हर जगह नम्बर। क्या व्यक्तियों के भी नम्बर होते हैं ? फिर नाम किस लिए हैं ? ये कोई पुस्तक के पृष्ठ हैं या किसी मशीन के पुर्जे ? शायद यों ही हो ! समाज भी तो एक मशीन ही है न ! लेकिन मशीन तो एक पुर्ज़े के बिना नहीं चल सकती जबकि समाज एक व्यक्ति के बिना अपितु कइयों के बिना भी चल जाता है। और पुस्तक में भी एक पृष्ठ का स्वतन्त्र कोई महत्व नहीं जबकि व्यक्ति का है। फिर व्यक्ति के लिए नम्बर क्यों ? स्कूल में नम्बर 45 ? यैस सर। कालेज में नम्बर 204 ? यैस सर। सैना में नम्बर 74516 यैस सर। और अब नम्बर सेवन ? यैस स—सिस्टर।

फिर मुझे यह स्मरण आते ही कि चलो किसी ने मेरा हाल तो पूछा, मेरी सारी खोझ जाती रही और मैं मोम हो गया। मैंने चाहा कि नर्स फिर कहे "हाऊ आर यू नम्बर सेवन" और मैं कह दूं कि कैसा हूं। वह मेरी पट्टियां खोलने लगी—फिर बांधनी थीं। मैंने कहा, "फीलिंग टैरीबल पेन" (बहुत पीड़ा हो रही है) और उसने सांत्वना दी "विल बी आल राइट, ब्रेव सोल्जर" (ठीक हो जाओगे बहादुर सिपाही)। इस वाक्य का अन्तिम भाग मुझे ऐसे लगा कि उसने मेरे मुंह पर चपत लगाई हो कि सिपाही और पीड़ा? लेकिन उस समय यह चपत भी मीठी लगी और मेरी पीड़ा और भी तीव्र हो गई - पीड़ा नहीं, व्यथा, जो दवाइयों से नहीं हट सकती थी—खाने पीने से नहीं हट सकती थी - अपितु उसे स्नेह चाहिए था, प्यार चाहिए था। मैं रोना चाहता था—किसी के गले लग कर खूब ज़ोर से। नर्स मेरी पट्टियां खोल रही थी और मैं उसे देख रहा था—टिक-टिकी लगाये और कभी-कभी पीड़ा को भी भूल कर—जो पट्टियां खोलते हुए हो रही थी—मैंने चाहा—चाहा कि नर्स के गले लिपट जाऊं और वह मुझ से पूछे कि क्या बात है और मैं ज़ोर से रो पड़ूं—खूब रोऊं।

डाक्टर आया और सब पट्टियां फिर बांधी गईं। उसने भी मेरा हाल पूछा। डाक्टर चला गया और नर्स मेरा नाश्ता ले कर आई। मैंने चाहा कि उससे कुछ पूछूं—बात करूं, लेकिन नहीं कर सका। न जाने क्यों—क्यों उसके शब्दों में, डाक्टर के शब्दों में केवल औपचारिकता-सी लगी—स्नेह का अभाव सा। जैसे वे विवश होकर बन्धे हुए—कर्तव्य या नौकरी समझ कर सब कुछ कर रहे हैं। क्यों कि उन्हें करना पड़ता है। इस लिए मैं नर्स से कुछ न पूछ सका—केवल

देखता रहा। भला, जो पीड़ा एक मां को अपने बेटे के प्रति, एक भाई को या बहिन को अपने भाई के प्रति और एक पत्नी को पति के प्रति हो सकती है, वह इनमें कहां ? वह भावना कहां ? फिर मैं ने सोचा मैं बच क्यों गया—वहीं मर जाता तो अच्छा था। अभाव तो न खटकता। यहां किसी ने नहीं पूछा तो वहां मरने से—शायद यदि अखबार में खबर छपती तो कोई, नाम लेकर या चित्र देखकर—यदि छपता तो—एक श्वास लेता—और हो सकता है किसी सहृदयी के दो आंसू भी टपक पड़ते—और पड़ते मेरे चित्र पर।

कुछ देर बाद सन्तोख ने मुझे चाक्लेट दिया—उसे कोई दे गया था। मैं लेना नहीं चाहता था—वह 'कोई' मुझे थोड़ा ही दे गया था—उसे दे गया था—फिर मैं क्यों लूं—किसी की चीज़ ? किसी की सद्भावनाएं किसी के लिए मैं क्यों लूं ? मुझे किसी का 'कुछ' नहीं चाहिए—अपना केवल अपना अधिकार—केवल अपना 'कुछ' यदि है तो—ले कन ले लिये। मेरे साथी अपनी खुशी मेरे साथ बांट रहे थे और मैं बदले में उन्हें अपने दुःख देता। फिर सोचा—मेरा दुःख कोई न बांटेगा ? कोई नहीं ? कोई नहीं आकर इस समुद्र से एक बून्द उठाएगा और उसके स्थान पर एक बून्द स्नेह की, प्यार की, सहानुभूति की—उंडेल देगा ? कोई नहीं ? चलो, ऐसा ही सही।

मैं कुछ सोचने लगा—कुछ आकृतियों को स्मरण करने लगा और कुछ आकृतियां मेरे आगे नाचने लगीं—धुन्धली सी—अस्पष्ट—जिन्हें मैं स्पष्ट देखना चाहता था। लेकिन वे और भी धुन्धली होती जातीं। एक बहुत अस्पष्ट आकृति सामने आई—मेरे मुंह से झट निकल गया "सुरेन्द्र !" सन्तोख ने कहा, "किसे पुकार रहे हो ?"

"किसी को नहीं" मैं खिसिया कर बोला - लेकिन वह आकृति लुप्त हो गई। फिर कुछ उभरा—है ! मां ! मां ! रो रही है ! अश्रु ! फिर लुप्त। सन्नाटा—अस्पष्टता। यों ही सोचते-सोचते आंख लग गई। क्या देखता हूं - सुरेन्द्र पास खड़ी है, अब वह बड़ी हो गई है। सलज्ज, संकोची और गम्भीर—उसमें बचपन की वह चपलता नहीं। खड़ी है—कुछ बोल नहीं रही है।

फिर देखा वही नर्स है—सुरेन्द्र ही—पट्टियां खोल रही है। फिर पर्दा बदला—वह दूर खड़ी है, वहां टीले पर मुझे बुला रही है—मैं भागा-भागा जाता हूं—लेकिन टीले पर चढ़ नहीं पाता वह मेरा हाथ पकड़ने को हाथ लपकाती है और मेरा हाथ फिर भी नहीं पहुंचता—ज़ोर की आंधी आती है और वह छलांग लगाने लगती है—मैं ज़ोर से कहता हूं "नहीं !" आंख खुल गई। सन्तोख ने फिर पूछा, "क्या नहीं ?" मैंने उत्तर नहीं दिया—आंखें फिर बन्द कर लीं-और फिर स्वप्न—मैं छोटा सा बालक—पिता जी ने उठाया है—फिर मां ने उठा लिया—फिर पिता जी डाक्टर हैं—और मेरी पट्टी बांध रहे हैं। फिर देखता हूं कि जो स्त्री करनैल के पास आई थी वह मेरे सामने खड़ी है—मैं उसे जानता हूं। वह मुझे जानती है पूछ रही है मैं कैसा हूं और मेरे लिए बहुत सी वस्तुएं लाई है। करनैल मेरी ओर तृष्णा भरी दृष्टि से देख रहा है। फिर मैं भागा जा रहा हूं और शत्रु मेरा पीछा कर रहे हैं—मैं उड़ने लगा, वे पीछे रह गए। फिर सुरेन्द्र के घर पहुँच गया—लेकिन मालूम हुआ कि वह कहीं दूसरी जगह चली गई है वहां को चल पड़ा—लेकिन स्टेशन पर पहुँचते ही गाड़ी निकल गई—फिर उस स्थान पर पहुंचता हूं तो मालूम हुआ कि मैं किसी और स्थान पर पहुँच गया हूं—फिर सुरेन्द्र

नहीं वह स्त्री—वही सुरेन्द्र है—लेकिन आकृति कुछ भिन्न है—मुझे चॉकलेट दे रही है- और जब खाने लगा तो वे कोयले के टुकड़े हो जाते हैं। गीत की आवाज़—सुरेन्द्र गा रही है—नहीं कोई और गा रहा है लेकिन मैं उसे सुरेन्द्र ही मान रहा हूं· आंख खुल गई। देखा तो सन्तोख किसी गीत की पंक्तियां गुनगुना रहा है। मैंने झल्ला कर आंखें बन्द कर लीं—फिर कुछ नहीं देखा—सन्नाटा—शून्य—अभाव—कोई नहीं आया—कोई क्यों आए? था भी कौन?

घुटन

उफ़, वह भी यहीं आके खड़ी हो गई ! न जाने यह जानबूझ कर यहां से ही आकर बस पकड़ती है—जानबूझ कर इसी समय आती है जब मैं आता हूं। लो एक-एक पल लंबा हो गया। घंटों-पहरों लंबा - नहीं, मीलों लंबा। इसके आने से समय रुक क्यों जाता है ! जल्दी से बस क्यों नहीं आ जाती—ताकि मैं यहां से भाग जाऊं—बहुत दूर। मुझ से इसका सामना नहीं होता। आस-पास की ज़मीन मुझे छुपने के लिए जगह क्यों नहीं देती ?

"बड़ी कड़ाके की सर्दी पड़ रही है" पास से किसी ने कहा।

"बारिश जो नहीं हुई" एक लाला जी बोले।

"ठंडी हवा हड्डियों में धंसती जा रही है" एक स्त्री ने कहा।

"हवा !" मैं ने इतनी ऊंची आवाज़ में कहा जो केवल मुझे ही सुनाई दे -"हवा कहां है। यहां तो कहर की गर्मी पड़ रही है—कहीं पत्ता नहीं हिलता—हर चीज़ झुलस रही है—दम घुटा जा रहा है।"

सचमुच ही मेरे माथे पर हल्का सा पसीना आ जाता है—

रूमाल से अपना माथा पोंछता हूँ। वह अब भी खड़ी मेरी ओर घूर रही है, उसकी भवें मुझे तनीं हुई लगती हैं। लेकिन उसके वक्ष का वह तनाव नहीं रहा जो पहले हुआ करता था—उसका मुख वैसा ही सुन्दर है—लेकिन वहां चंचलता के स्थान पर गंभीरता आ गई है। उसके चेहरे से अब भी एक लट उलझ रही है—जो किसी टूटी शृङ्खला का आभास करवाती है—लेकिन उसके बाकी बाल लापरवाही से बिखरे पड़े हैं। होठों पर लिपस्टिक नहीं है—माथे पर बिन्दी भी नहीं है। समय कितना प्रबल है समय कितना परिवर्तन ला देता है।

"समय!" यह भी मेरी ही आवाज़ है। "समय नहीं आदमी परिवर्तन लाता है—आदमी के स्वार्थ परिवर्तन लाते हैं।"

वह शायद कहीं नौकरी करती है—नौकरी नहीं, जीवन का बोझ ढो रही है।

"इन बसों के भी आने-जाने का कोई समय नहीं" पास खड़े एक व्यक्ति के सब्र का पैमाना टूट गया, "कभी कोई बस ठीक समय पर नहीं आती।"

"आज-कल किसी चीज़ का भरोसा नहीं।" एक और महाशय बोले।

"भरोसा! हां किसी चीज का भरोसा नहीं·· व्यक्ति का भरोसा नहीं—वचन का भरोसा नहीं प्यार का भरोसा नहीं। अगर जीवन भर पछताना हो तो किसी पर भरोसा करलो। उसने भी मुझ पर भरोसा किया था, तभी तो अब पछता रही है—वह अब

हमेशा के लिए पछताती ही रहेगी उसके जीवन में मैं ने जो ज़हर घोला है—उसका घूंट उसे पीना पड़ेगा।

उसने फिर मेरी ओर घूर कर देखा। उफ़ कितनी घृणा है उसकी दृष्टि में! वह अपने शरीर का सारा विष मेरी नसों में भर देना चाहती है। नहीं सहे जाते मुझसे उसके विषैले प्रहार। मेरा सर चकरा रहा है—गला खुश्क हो रहा है! पानी!!

वह अकेले ही दुःख झेल रही है—मुझे भी उसके दुःख में साथ देना चाहिए। लेकिन दुःख में यहां कौन साथ देता है! मैं ही बेवक़ूफ़ क्यों बनूं। मैंने तो केवल उसके शरीर का आनन्द लेना था—अपने शरीर की भूख मिटाने के लिए। मैं ने तो उसके काले घनें केशों से आंख-मिचोली खेलनी थी—उसके होठों से अपने तपते होठों की प्यास बुझानी थी—उसके उरोजों का गर्व तोड़ना था—रातों की तनहाई दूर करने के लिए उसकी बाहों का सहारा लेना था ताकि उसके यौवन की सुराही से कुछ प्याले मैं भी पी सकूं।

मैं ने उसे कब कहा था कि वह मुझ पर भरोसा करे। यदि भावुकता में आकर मैं ने उसे कह दिया था, "डेज़ी, हम जन्म-जन्म के साथी हैं—हम साथ जीएंगे और साथ मरेंगे—मैं तुम्हारे बिना जिन्दा न रह सकूंगा, तुम मेरे सपनों की रानी हो—मेरे जीवन का एक-मात्र सहारा हो। मैं शादी करूंगा तो केवल तुम से—तुम्हीं मेरे बच्चों की मां बनोगी," तो इसमें मेरा क्या दोष है? और क्या मैं उसे उस समय गालियां देता! जो मेरे जिस्म की भूख मिटाती रही हो उसे मैं गालियां कैसे दे सकता था। उसे मेरी बातों का भरोसा नहीं करना चाहिए था—उसने भरोसा करके अपना आत्म-समर्पण

कर दिया तो यह उसका दोष है।

दोष तो उसका है, लेकिन उसे देख कर मेरे बदन में कपकपी क्यों छिड़ जाती है ? यह कपकपी उसी दिन से छिड़ने लगी है जब उसने आकर मुझे घबराई हुई आवाज़ में कहा था :—

"आनन्द, तुम मुझ से प्यार करते हो न ?"

"हां।" मैं ने उत्तर दिया था।

"मेरा साथ तो नहीं छोड़ोगे ?"

"कभी नहीं।"

"तुम चाहते थे न मैं ही तुम्हारे बच्चे की मां बनूं ?"

"हां" मेरा माथा ठनका।

"तो मैं सचमुच मां बनने वाली हूँ।"

"क्या बकती हो ?"

"ऐसा न कहो आनन्द, मैं सचमुच मां बनने वाली हूँ। जल्दी से शादी कर लो।"

"मैं कैसे मान लुं यह मेरा ही बच्चा है !"

"आ—नन्द !" उसके अश्रुओं का बंध टूट गया था। "आनन्द मुझे नहीं मालूम था तुम इतने धोखेबाज़ मक्कार निकलोगे। तुम ने मुझे लूट लिया। तुमने मुझे बरबाद कर दिया—तुमने मुझे कहीं का न छोड़ा ! मैं क्या मुंह दिखाऊंगी ?"

मैं सब कुछ सुनता रहा। वह उस समय मुझे जूते भी लगाती तो मैं कुछ न कहता—चुपके से सह लेता। फिर अचानक उसमें कोई

नारी जाग पड़ी—उसने अपने आंसू पोंछ लिए और चली गई थी। शायद पत्थर के आगे उसने सर पटकना अब ठीक नहीं समझा था।

फिर बहुत दिनों से उसे मैंने नहीं देखा। फिर एक दिन अचानक इस बस-स्टाप पर उसे देख लिया—तब से रोज़ देखता हूं। लेकिन अब हम अजनबी हैं—एक दूसरे को पहिचानते तक नहीं। फिर भी वह मुझे देख कर आग-बगोला हो जाती है और मैं उसे देखकर ज़मोन में धंसता जाता हूं।

इतने में एक बस आती है—सभी लोग उसकी तरफ़ लपकते हैं—वह भा आगे बढ़ती है। मैं पीछे हट जाता हूं—मैं उस बस में नहीं बैठ सकता। डर लगता है—कहीं उसके साथ बस में बैठ गया तो मूर्छित न हो जाऊं।

बस चली गई। वह भी अब वहां नहीं है।

"कितनी तेज़ हवा चल रही है," पास खड़ा एक व्यक्ति कह रहा है।

"हां, सर्दी भी बहुत है," यह मेरी आवाज़ है। अब मुझे लगा कि मौसम कुछ खुल गया है। अब माथे पर पसीना नहीं आ रहा और न ही दम घुटता है। अब तो सर्दी लग रही है।

धुन्धलके

"बीबी जी, आप बाबू जी के साथ इस बार कुल्लू न जाइये।"

"क्यों ?"

"क्योंकि आपकी जान खतरे में है।"

"क्या मतलब ?"

"क्या आप अभी तक कुछ नहीं समझीं ?"

"तू कहना क्या चाहती है ?"

"बाबू जी आपको अपने रास्ते से हटाना चाहते हैं, वे आपको रास्ते का कांटा समझते हैं क्योंकि वे इन्दु से शादी करना चाहते हैं और यह आपके होते हुए उनके लिए संभव नहीं।"

सावित्री पर जैसे किसी ने वज्र फैंक दिया हो, उसका सर चकराने लगा, दिल हथौड़े की तरह बजने लगा, आंखों के आगे अन्धेरा छा गया, वह बड़ी मुश्किल से संभल कर बोली, "तुझे कैसे पता चला ?"

"बीबी जी, कल वह आप की ग़ैरहाज़री में बाबू जी के साथ

आई थी, और मैंने छिप कर उनकी बातें सुनीं। प्रोग्राम यह तय हुआ कि बाबू जी आपको साथ लेकर कुल्लू जाएंगे और रास्ते में या तो कार का कहीं ऐक्सीडेंट होगा, या कोई और ढंग इख्तियार किया जायेगा जिससे लौटते समय आप उनके साथ नहीं लौट सकेंगी और वे किसी-न-किसी दुर्घटना का बहाना लेकर वापस आ जाएंगे। और बस –। बीबी जी, मुझे तो कई दिनों से उस कलमुंहीं का आना-जाना पसन्द नहीं था, लेकिन मैं नौकरानी ठहरी, मुझे बोलने का क्या हक़, मैं क्या कह सकती हूं। इसी लिए मैं आपको कहती हूँ कि आप उनके साथ न जाइये।"

"तब तो मैं ज़रूर आऊंगी, जानकी, ज़रूर।"

"बीबी जी, यह आप क्या कह रही हैं? भगवान् के लिए कुछ तो सोचिये! अपने-आप पर इतना अत्याचार तो न कीजिये!"

"पगली, ज़रा सोच तो, अगर मैं अपनी जान बचा भी लूं तो क्या मैं यह आघात् सहन कर सकती हूं कि मेरे पावन-प्रेम से विश्वास घात किया जाये? यह आघात् मैं नहीं सहन कर सकती · कभी नहीं! वह जीवन मेरे लिए मृत्यु से भी दुःखदाई होगा। जब मेरे लिए उनके हृदय में प्रेम नहीं रहा, सहानुभूति नहीं रही तो मेरे जीवन में खुशियां कैसे खेल सकती हैं? जिनके लिए मैं जी रही हूँ अगर उन्हें मेरा जीना पसन्द नहीं तो मेरे जीने का क्या लाभ? जहां मैं ने उनकी खुशी के लिए आज तक कोई कसर नहीं उठा रखी, वहां क्या मैं यह नहीं कर सकती? दुःख तो इस बात का है कि यदि उन्होंने मुझे कहा होता कि उनकी यह इच्छा है तो क्या मैं इन्कार करती? मुझे तो और भी खुशी होती, मैं अपने हाथों से उन्हें सेहरा बान्धती। लेकिन

उनको मुझ पर इतना भरोसा नहीं रहा, उन्होंने मुझे इस योग्य भी न समझा, मैं उनकी नज़रों में इतनी गिर चुकी हूँ ! जानकी, तू ही बता, ऐसी ज़िन्दगी से मौत अच्छी है कि नहीं और वह भी अपने पति के हाथों ? इससे बढ़ कर सौभाग्य की और कौन सी बात हो सकती है ? भगवान् उनकी और मेरी दोनों की कामना पूर्ण करे। उनके विश्वासघात से मुझे उनकी दी हुई मृत्यु कहीं ·· कहीं अधिक प्यारी है।"

"उफ़ ! इतना धोखा ! इतना फ़रेब ! क्या संसार में सच्चा प्यार कुछ नहीं ? उसकी यह कीमत ! क्या यौवन, धन-संपत्ति ही सब कुछ है ? आखिर मुझ में उन्हें कौनसी त्रुटि नज़र आई जो उनका मुझ से इतनी जल्दी जी भर गया ! मेरे प्रेम का इस प्रकार मज़ाक ! हां, मैं ज़रूर मरूंगी, जानकी, ज़रूर ! मैं उनके हाथों मरूंगी ! शायद मेरे प्रेम में जो त्रुटि है वह इस मृत्युदण्ड से पूर्ण हो जाये। मैं ··· मैं नहीं जी सकती ··· यह विश्वासघात की चोट हृदय में छिपा कर कभी नहीं जी सकती। आखिर मुझ में ऐसी त्रुटि आई क्यों— कि उनको ऐसा सोचने का अवसर मिला ? मुझे ऐसी मृत्यु से बहुत ख़ुशी होगी बहुत ख़ुशी ··आ हा ··· हा···हा" और वह चकरा कर गिर पड़ी जानकी ने उसे सहारा देकर पलंग पर लिटा दिया।

बलवीर की कार ब्यास के किनारे-किनारे बल खाती हुई सड़क पर कुल्लु की ओर भागी जा रही थी। वह कुछ गंभीर दिखाई देता था जैसे बहुत गहरे विचारों में डूबा हुआ हो। सावित्री आज सब हार-शृंगार लगा कर दुलहन की तरह सजी हुई थी। और बहुत प्रसन्न दिखाई देती थी। बलवीर को इस बात पर हैरानी थी कि

आखिर आज इसने सब गहने कैसे पहन लिए क्योंकि पहले तो कई बार उसके कहने पर भी उसने नहीं पहने थे और कह दिया करती थी "मुझे अच्छे नहीं लगते।" लेकिन आज तो बिना कहे ही पहने हुए थी। वह बलवीर को बराबर नज़र टिकाए देखे जा रही थी लेकिन बलवीर का साहस नहीं पड़ता था कि एक बार भी उसकी ओर देखता। एक बार सावित्री ने पूछा भी, "आप बहुत परेशान दिखाई देते हैं क्या बात है?" "कुछ नहीं" कह कर उसने टाल दिया। वह फिर बोली, "देखिये मुझ से बहुत भूलें हुई होंगी, इस लिए क्षमा करना।"

बलवीर कुछ नहीं बोला। "मैंने जानकी को अच्छी तरह समझा दिया है, वह आपका हर प्रकार से ध्यान रखेगी। आप अपनी सेहत का ख़्याल रखना। जानकी बहुत अच्छी है और वफ़ादार नौकरानी है उसे हटाना न कहीं।"

बलवीर सब बातें बड़ी हैरानी से सुन रहा था लेकिन वह कोई प्रश्न न कर सका। वह बहुत तेज़ कार चला रहा था। उसकी कार के आगे और कोई गाड़ी नहीं थी क्योंकि पिछली चौकी पर जब उसकी कार गुज़रने लगी थी तो ट्रैफिक बन्द हो गई थी—पिछली गाड़ियों को वह बहुत पीछे छोड़ आया था।

एक टीले पर आकर उसने कार रोक ली और बाहर निकल आया। नीचे दरया की लहरों का शोर था जैसे वे समुद्र की गोद में समाने के लिए उत्सुक हों। बलवीर ने जल्दी इधर-उधर देखा, फिर सावित्री की ओर जो उसके साथ ही खड़ी थी। वह उसकी भावना को भांपती हुई उसके और समीप हो गई। फिर पांव छूने के लिए

नीचे झुकी। बलवीर पीछे हट गया, "यह क्या कर रही हो, तुम्हें आज क्या हो गया है ?" उसने हैरानी से पूछा।

"क्या आज जाती बार चरण भी नहीं छूने देंगे, आप इतने नाराज़ हैं ?"

"जाती बार ! क्या मतलब है तुम्हारा ?"

"मैं आपकी खुशियों में बाधक हूं न ? इस लिए आप मुझे रास्ते से हटाना चाहते हैं और मुझे इस बात की बहुत ही ख़ुशी है कि मेरे न होने से आप सुखी रह सकते हैं। जो सुख मैं न दे सकी वह शायद इन्दु आपको दे दे। आप की मुझ पर बहुत कृपा है जो आप ... ..." वह आगे न बोल सकी।

बलवीर के चेहरे का रंग उड़ गया कि यह भाडा कैसे फूट गया ? अब क्या होगा ?

सावित्री ने उसकी भावना को भांपते हुए पर्स से एक काग़ज़ निकाला और बलवीर को दे दिया जिसमें लिखा था, 'मैं अपनी इच्छा से आत्महत्या कर रही हूँ और मेरी मृत्यु का कोई उत्तरदाई नहीं। कुछ परिस्थितियां ही ऐसी पैदा हो गई थीं कि मुझे यह पग उठाना पड़ा—सावित्री।' "लीजिये, अब आपको किसी प्रकार से भी घबराने की ज़रूरत नहीं। पुलिस आपको कुछ नहीं कह सकती। जल्दी कीजिये और मुझे विदाई दीजिये। नहीं तो पीछे से कोई गाड़ी आ जाए गी।"

बलवीर कुछ न बोल सका। वह न जाने किन विचारों में गोते खा रहा था।

"यदि आपका स हस नहीं साथ दे रहा तो मैं स्वयं हिम्मत करती हूं" यह कह कर वह दरिया में छलांग लगाने ही लगी थी कि बलवीर ने उसे ज़ोर से पकड़ लिया।

"नहीं सावित्री, ऐसा नहीं होगा। मुझे क्षमा कर दो। मैं एक देवो-त्यागिनी और बलिदान की प्रतिमा का तिरस्कार करने लगा था, कितना अभागा हूं मैं।"

डाक्टर बीबी

ओप्रेशन-थियेटर से आए अभी उसे बीस मिनट भी नहीं हुए थे कि उसके कमरे का दरवाज़ा खटका। नींद से उसकी आंखें भारी हो रही थीं -लेकिन फिर भी वह उठकर दरवाज़े की ओर बढ़ी। उसने यही सोचा कि किसी मरीज़ को कोई तकलीफ़ बढ़ गई होगी। लेकिन दरवाज़ा खोलने पर उसने देखा कि नर्स और वह आदमी सामने खड़े हैं जिसकी पत्नी का अभी वह केस करके आई थी। उसने प्रश्न-वाचक नज़रों से नर्स और उस व्यक्ति की ओर देखा और कमरे के अन्दर आने का संकेत किया।

व्यक्ति ने जेब से दस-दस रुपये के कुछ नोट निकाले और उसकी ओर बढ़ाते हुए बोला, "डाक्टर साहब मैं किन शब्दों से आप का धन्यवाद करूं ?"

"इस में धन्यवाद की कौन सी बात है, यह तो मेरी ड्यूटी है जिसके लिए मुझे वेतन मिलता है।"

"फिर भी मैं आपका बहुत अहिसान मानता हूं। यह तुच्छ-सी भेंट मेरी ओर से स्वीकार कीजिए।"

"जी नहीं, मैं पैसे नहीं लेती, आप जा सकते हैं।"

उस व्यक्ति ने नर्स की ओर देखा फिर डाक्टर सुनन्दा की ओर। वह अजीब उलझन में पड़ गया। वास्तव में नर्स ही उसे वहां लाई थी। सुनन्दा भी जानती थी कि नर्स ने खुद पैसे लिए हैं और वह चाहती है कि मैं भी ले लूं तो वह दोषी न समझी जाए। यह कोई नई बात नहीं थी। रोज़ ही सुनन्दा जब कोई डिलिवरी का केस करके अपने कमरे में आती थी तो नर्स मरीज़ के किसी-न-किसी रिश्ते-दार को साथ लेकर उसके कमरे तक आती और वह हर बार पैसे लेने से इन्कार कर देती।

आज भी वह परिस्थिति को भांपती हुई उस व्यक्ति से बोली, "आप नर्सों को जो देना चाहें दे दें, मैं कुछ न लूंगी।"

वह व्यक्ति भी द्विधा में पड़ गया। वह यह नहीं समझ पा रहा था कि वह डाक्टर का सम्मान कर रहा है या अपमान। फिर भी उसने झिझकते हुए कहा, "देखिए मेरे हां लड़का हुआ है, इस खुशी में यह मिठाई के लिए ..."

"मिठाई मैं इतनी तो नहीं खा जाऊंगी" सुनन्दा ने उसकी बात पूरी होने से पहले ही टोक दिया। "आप मिठाई लाएं तो मैं उसमें से मुंह मीठा कर लूंगी।"

लेकिन उस व्यक्ति का मिठाई लेकर सुनन्दा के सामने आने का कभी साहस नहीं हुआ। उसकी आंखों में कृतज्ञता के भाव सुनन्दा ने भी पढ़ लिए थे और वह भी अनुभव कर रही थी कि इस व्यक्ति के पैसे न लेकर उसने बहुत कीमती चीज़ हासिल कर ली है जिसे वह

बहुत कीमत चुका कर भी प्राप्त नहीं कर सकती थी। वह वस्तु थी—'सम्मान' और 'स्नेह'। यदि वह उसके पैसे ले लेती तो उसके मन में इतना सम्मान न रहता। वह उसे रिश्वतख़ोर, लालची और न जाने क्या-क्या कहता। लेकिन थोड़े से पैसों के बदले सुनन्दा ने अपार श्रद्धा और सम्मान खरीद लिया था। उस व्यक्ति के मन में एक बात सदैव खटकती रही कि शायद उसने सुनन्दा को रुपये भेंट करके उसका अपमान किया है।

सुनन्दा ने हस्पताल में नियुक्ति से पहले यह दृढ़ निश्चय किया था कि वह कभी किसी मरीज़ से रिश्वत नहीं लेगी। अभी तक वह अपने निश्चय पर अटल थी। कई बार उसके सामने रुपयों के नोट आए, कई बार उपहार के रूप में लोगों ने उसे कुछ देना चाहा—लेकिन उस ने कभी कुछ स्वीकार नहीं किया। जिस मरीज़ का इलाज अच्छा होता, जिस का केस ठीक होता, वह अपनी ख़ुशी से उसे कुछ-न-कुछ देना चाहता, लेकिन उसने सदैव इन्कार कर दिया। वह सभी मरीज़ों से बहुत सहानुभूति तथा प्यार भरा व्यवहार करती, इस लिए हर मरीज़ उसका बहुत सम्मान करता। उसकी ड्यूटी के समय क्या मजाल कि कोई नर्स अपने काम में लापरवाही कर जाए या किसी मरीज़ को कोई शिकायत हो। वह नर्सों से डट कर काम लेती थी इस लिए कुछ नर्सें उससे ख़ुश नहीं थीं।

एक दिन एक और स्त्री उसके वार्ड में दाखिल हुई। बेचारी को बहुत कष्ट था और पीड़ा से कराह रही थी। सुनन्दा ने झट उस स्त्री का मुआइना किया और दवा वगैरा दी। लेकिन डिलिवरी में अभी देर थी, इस लिए नर्स को आवश्यक आदेश देकर वह अपने कमरे में आ गई। थोड़ी देर बाद उस स्त्री की सास उसके पास आई

और सौ-सौ के दो नोट उसे थमाते हुए बोली, "डाक्टर साहब, मेरी बेटी का केस ठीक से कर दीजिए गा।

सुनन्दा को उस स्त्री पर ग़ुस्सा ग्रा गया, 'तो क्या बाकी स्त्रियों के केस मैं ठीक से नहीं करती ?" वह ज़रा तीखे स्वर में बोली।

"नहीं-नहीं मेरा यह मतलब नहीं। मैं ने आपकी बहुत तारीफ़ सुनी है। मेरा मतलब है मेरी बेटी का ख़ास ख़्याल रखिएगा।"

"अगर मैं ने ख़्याल रखना है तो आप की रिश्वत के बग़ैर भी रख सकती हूं, आप जा सकती हैं।"

नोट हाथों में थामे वह स्त्री वापस चली गई।

वह चाहती तो हर महीने सैकड़ों रुपये कमा सकती थी उसे कोई परिश्रम करने की ज़रूरत नहीं थी या किसी से मांगने की ज़रूरत नहीं थी। बस लोग जो पैसे भेंट करते थे, उन्हें स्वीकार करने की ज़रूरत थी। लेकिन बड़ी से बड़ी रकम देखकर भी उसका मन विचलित नहीं हुआ था। उसके साथ की दूसरी डाक्टर न केवल लोगों द्वारा भेंट किए रुपये ले ही लेतीं थीं, अपितु कई बार स्वयं भी मांग लेतीं थीं। वे सब प्रातः शाम घर में मरीज़ों को देखती थीं और उनसे फ़ीस द्वारा ख़ूब पैसे बटोर लेतीं थीं, लेकिन सुनन्दा ने घर में दिखाने के लिए आए किसी मरीज़ से कभी कोई पैसा नहीं लिया। वह घर में मरीज़ों को देखती भी कम थी। उन्हीं को देखती जिनकी हालत गंभीर होती, नहीं तो सब को कह देती कि हस्पताल आना।

जब कभी रास्ते में, गली-बाज़ार में या किसी समारोह में उसका कोई मरीज़ उसे मिल जाता तो वह कृतज्ञता-वश सर झुका लेता। स्त्रियां उसे झुक-झुक कर प्रणाम करतीं—तब उसे बहुत प्रसन्नता होती कि उसकी असल कमाई यही है। "ये लोगों का सम्मान और प्यार किसी कीमत पर भी नहीं ख़रीदा जा सकता", वह सोचती। "यदि मैं इनसे पैसे ले लेती, तो वह स्त्री मुझ से नज़र बचा कर निकल जाती। वह पुरुष न जाने मन-ही-मन में मुझे कितना कोसता और गालियां देता। मैं ने इन सब को जीत लिया है—ये मेरा अहित कभी नहीं चाहेंगे।"

सच-मुच ही वह लोगों के मन जीत लेती थी। मन जीतने के लिए वह एक ही कीमत चुकाती थी, और वह थी मरीज़ों की सच्चे मन से सेवा। वह नर्सों से भी कहा करती, "देखो, मरीज़ को दवा से अधिक सहानुभूति की आवश्यकता होती है प्यार की आवश्यकता होती है। मरीज़ के बुरा-भला कहने पर भी उसकी बात का बुरा न मनाओ क्योंकि वह दुःखी होता है और कई बार वह नहीं जानता होता कि वह क्या कह रहा है। मरीज़ से सदा मीठा बोलो और उसकी बात ध्यान से सुनो।"

इस तरह वह मरीज़ों का मन जीत लेती थी।

वह अपने माता-पिता की इकलौती बेटी थी। उसके पिता का स्वप्न था कि वह डाक्टर बने। मां भी यही चाहती थी, क्योंकि वह समझती थी कि दीन-दुखियों की सेवा और सहायता करने का सब से अधिक अवसर डाक्टरों को ही मिलता है। अभी वह एम० बी० बी० एस० कर रही थी कि उसके पिता का देहान्त हो गया। पिता उसके

रिटायर्ड जज थे, घर की हालत अच्छी थी और सुनन्दा को डाक्टर बनने में कोई विशेष कठिनाई नहीं आई।

डाक्टर बन कर उसने अपने स्वर्गवासी पिता और माता दोनों का सपना सच्चा किया। नियुक्ति के बाद जब वह पहले दिन हस्पताल गई तो मां ने चलते समय कहा था "बेटी कभी रुपये के लालच में न पड़ना, कभी किसी का हक नहीं मारना और अपने कर्तव्य को कभी किसी पर अहसान न समझना।"

इन सभी बातों का निर्वाह वह करती आ रही थी।

उसे खाने पीने या पहनने का कोई शौक नहीं था। जितना वेतन मिलता और पिता की छोड़ी कुछ पूंजी को मिला कर अच्छा निर्वाह चल रहा था। मकान अपना था, इस लिए किराए का झंझट भी नहीं था। ब्याह-शादी के बारे उसने कभी सोचा ही नहीं था।

एक बार गर्मियों में वह एक महीने की छुट्टी लेकर कुल्लू-मनाली कांगड़ा आदि देखने के लिए उधर चली गई। मां और घर के पुराने नौकर को भी वह साथ ले गई। उसे देहाती इलाके देखने का बहुत शौक था। इस लिए वह सैर के लिए घूमने-फिरने को सुन्दर स्थानों की अपेक्षा गांवों को ही चुनती। वह गांवों के लोगों का रहन-सहन और उनका सादा जीवन देखना चाहती थी।

एक दिन दो-तीन गांवों में घूमने के बाद जब वह चन्देल जाने लगी तो गांव से कोई चार मील बाहर एक व्यक्ति ने उसे रास्ते में रोक कर कहा, "मैंम साहब इस गांव न जाइएगा, वहां हैज़ा फैला है और कुछ आदमी मर भी चुके हैं।"

सुनन्दा ने अपने नौकर की ओर देखा, तो वह भी कहने लगा, "हां बीबी जी हमें इस गांव नहीं जाना चाहिए, अगर आपको कुछ हो गया ··· ···

"तू मेरे लिए डरता है या अपने लिए ?"

"अपने लिए नहीं डरता बीबी जी, आप मुझे चाहे जहां भेज दीजिए लेकिन आप नहीं जाइए।'

"अरे पगले तू ने यह नहीं सोचा कि मैं एक डाक्टर हूँ, और डाक्टर हो कर बीमारी या मरीज़ों से कैसे दूर भाग सकती हूं ? अब तो हम ज़रूर चलेंगे।"

'डाक्टर' का नाम सुनकर उस व्यक्ति की आंखों में भी चमक आ गई और वह बड़े उत्साह से बोला, "तब तो आपको ज़रूर सरकार ने भेजा होगा।"

सुनन्दा ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह उस व्यक्ति को भी साथ लेकर चन्देल पहुँच गई।

गांव में पहुंच कर उसने लोगों की जो दयनीय दशा देखी, उसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी। हर घर में कोई-न-कोई व्यक्ति बीमार था। फिर लोग अज्ञानता वश बीमारी को दूर करने की अपेक्षा इसे ईश्वर-प्रकोप मान रहे थे। सुनन्दा के पूछने पर पता चला कि वहां बीस मील तक कोई भी छोटा-मोटा हस्पताल नहीं है। दुश्वार इलाका होने के कारण कभी ही कोई अधिकारी इधर आता था। किसी भी बीमारी के इलाज के लिए लोग गांव के एक नाम-मात्र हकीम का सहारा लेते या फिर झाड़-फूंक का सहारा लेते।

सुनन्दा को यह देख कर बहुत दुःख हुआ के वे लोग स्वतन्त्र होने पर भी नवोदित प्रकाश से वंचित थे, नई सभ्यता और नव-सुविधाओं से वचित थे। उन पर अब भी अज्ञानता तथा निर्धनता का अन्धकार छाया हुआ था।

"ऐसे ही और न जाने कितने गांव होंगे", उसने सोचा, "जहां नवोदय तथा नव-सुविधाओं का प्रकाश न जाने कब पहुँचेगा। यही वे लोग हैं जिन्हें अधिक-से-अधिक सुविधाएं मिलनी चाहिए ताकि इन्हें भी अहिसास हो कि स्वतन्त्रता और पर-तन्त्रता में क्या अन्तर है।"

सुनन्दा पांच दिन तक उस गांव में रही। उसके पास दवाइयां तथा अन्य आवश्यक चीजें न थीं तो भी उसने यथा संभव लोगों का उपचार किया और उपाय बताया। किसी ने उसे श्रद्धा-भाव से देखा, किसी ने कृतज्ञता प्रकट की और किसी ने उसे शंका से देखा। फिर भी गांव से चलते समय उसे ऐसा अनुभव हुआ था जैसे वह अपने गांव अथवा परिवार से बिछुड़ रही हो।

वापिस आने पर हस्पताल में उसकी रात को ड्यूटी लगी। पहले ही दिन उसने डिलिवरी के दो केस किए। एक केस के लिए उसे पन्दरह रुपये तथा दूसरे के लिए पच्चीस रुपये भेंट किए गये और उसने स्वीकार कर लिए। नर्सों की खुशी का कोई ठिकाना न रहा। स्टाफ़ में यह बात आग की भांति फैल गई कि सुनन्दा ने सत्यवादिनी रहने का व्रत छोड़ दिया है। उन नर्सों तथा डाक्टरों को विशेष रूप से खुशी हुई जिन्हें सुनन्दा के फ़ीस न लेने पर अपना काम बिगड़ता नज़र आता था। स्टाफ़ में तरह तरह की बातें होने

लगीं, "बड़ी ईमानदार बनी फिरती थी, अब गर्व चूर हो गया", ... "अजी वह ज़माना गया जब ईमानदार लोगों का गुज़ारा हो जाता था," ... "पैसा चीज़ ही ऐसी है कि इसे ठुकराना बहुत कठिन काम है, इसे देख कर सब के मुंह में पानी आ जाता है।"

छुट्टी से वापिसी के बाद सुनन्दा न सिर्फ़ हस्पताल में ही मरीज़ों से फ़ीस ले लेती, अपितु उसने घर में भी मरीज़ों को देखना शुरू कर दिया। किसी मरीज़ को सिर्फ़ देखने के ही पांच रुपये लेती। लोगों का उस पर विश्वास बढ़ता जा रहा था क्योंकि वह अपने काम में बहुत माहिर थी। एक बार जिस मरीज़ को आराम आ जाता वह न केवल दोबारा उसी के पास आता अपितु और मरीज़ों को भी उसके पास आने को सलाह देता। मरीज़ों का तान्ता बन्धा रहता और कई बार रात के दस तक बज जाते। प्रातः हस्पताल जाने से पहले भी वह कुछ मरीज़ों को देख जाती।

उसके इस अचानक परिवर्तन पर यदि किसी को सबसे अधिक हैरानी थी तो उसकी मां को थी। पैसे तो ख़ूब आते थे लेकिन मां को बेटी की सेहत का अधिक ख़्याल था।

छुट्टी के रोज़ मरीज़ से अच्छी फ़ीस लिए बिना वह हस्पताल न जाती। उसने किसी मरीज़ से फ़ीस कभी मांगी नहीं, लेकिन जितने किसी ने भेंट किए उसने स्वीकार कर लिए।

इतनी आमदन बढ़ जाने पर भी उसके रहन-सहन या पहरावे में कोई अन्तर नहीं आया। वह वैसे ही सादगी में रहती जैसे शुरू में थी। यह बात भी लोगों की हैरानी का कारण बनी थी कि वह इतने रुपयों से क्या करती है। उसके कमरे में वही दो-चार टूटी-फूटी

कुर्सियां पड़ी होतीं। न उसके पहरावे में अन्तर आया और न उसके खाने-पीने में।

जब से उसने फ़ीस लेनी शुरू की, उसके प्रशंसकों की संख्या घटती गई। अब उसे देवी या परोपकारिणी कहने वालों की संख्या नाम-मात्र थी। विवशता कारण लोगों को उसके पास आना पड़ता, नहीं तो कोई उसे मुंह लगाने को तैयार न था। किसी मरीज़ को गले पड़ा ढोल बजाने वाली बातानुसार उसकी बात माननी पड़ती, और वह फ़ीस के पैसे दे तो देता लेकिन मन-ही-मन उसे ख़ूब कोसता। अब तो लोग उसे पिशाचिनी, क्रूर और मुर्दों से कफ़न उतारने वाली तक कह देते। अब मार्ग में कोई मरीज श्रद्धा और कृतज्ञता से सर नहीं झुकाता था अपितु नज़र बचा कर निकलने की कोशिश करता।

उसकी मां जब भी कभी ब्याह-शादी की बात चलाती तो वह रोक देती और कहती, "मां मैं कितनी बार कह चुकी हूं कि मैं ने शादी नहीं करनी।"

"बेटी यह तो दुनियां का दस्तूर है। आख़िर जवान बेटी को कब तक घर में रखा जा सकता है?"

"तो क्या मैं तुम्हारे लिए बोझ बन गई हूँ?"

"क्यों जली-कटी सुनाती हो! भला तुम्हारे जैसी बेटी भी कभी मां-बाप पर बोझ बन सकती है? तुम तो दूसरों का बोझ भी उठाती हो। तुम मेरी बेटी नहीं अपितु बेटा हो। लेकिन क्या करूं लोग नहीं जीने देते। जब भी कोई मिलता है तो यही पूछता है, 'बेटी

के रिश्ते की बात कहीं की ? अब आप इसको ब्याहते क्यों नहीं। शादी की उम्र बीतती जा रही है।' तो बताओ बेटी मैं क्या जवाब दूं ?"

"मां तुम लोगों की परवाह न करो। वे तो कभी किसी को किसी भी हालत में जीने नहीं देते। या तो लोगों के कहने पर चलो और या फिर अपने आदर्शों अनुसार चलो—एक ही बात हो सकती है। मुझे किसी की चिन्ता नहीं। मैं अपने निश्चित मार्ग पर चलती जाऊंगी—लोगों की बोलियां या ताने मुझे विचलित नहीं कर सकते।"

"बेटी तुम लोगों के मुंह नहीं बन्द कर सकती। जितने मुंह उतनी बातें करने लगते हैं। 'पता नहीं लड़की में कोई नुक्स है या कोई खास कारण है कि कोई ब्याहता नहीं' ऐसी बातें करने लगते हैं।"

"जो मन में आए करते रहें मुझे नहीं परवाह।"

कुछ लोगों में वह 'लालची' और 'कंजूस' डाक्टर के नाम से प्रसिद्ध थी। लालची इस लिए कि वह किसी को एक रुपये तक का लेहाज़ नहीं करती थी ! 'कंजूस' इस लिए कि इतना रुपया कमाने पर भी वह खर्च बिल्कुल नहीं करती थी। उसके साथ की डाक्टर इतने कीमती कपड़े पहनतीं. कुछ ने अपनी कारें रखी थीं, लेकिन वह सदैव सादे वस्त्र पहनती। चाहती तो वह भी कार रख सकती थी। लेकिन वह अब भी टैक्सी-स्कूटर पर, या पैदल ही आती थी।

लेकिन ये पैदल चलना उन पहाड़ी कठिन रास्तों की तुलना

में कुछ भी न था जहां वह हर वर्ष एक महीने के लिए जाती। यहां लोग इससे घृणा करते थे तो उन गांवों के लोग इसे सचमुच ही किसी देवी का अवतार मानते थे। वह हर वर्ष एक महीने को छुट्टी लेकर उन गांवों का चक्कर लगाती जहां अभी तक यातायात के साधन नहीं पहुँचे थे, जहां मीलों दूर तक कोई हस्पताल नहीं था और जहां लोग इलाज के लिए पैसे नहीं खर्च सकते थे। ज्यों ही वह आवश्यक दवाइयां लेकर चन्देल पहुँचती तो वहां के लोग ख़ुशी से नाच उठते। उसका नौकर उसके साथ होता। गांव के लोग उसको सहायता करने को हर दम तैयार थे। उसने गांव के एक पुरुष शेखू और एक स्त्री सोमा को कुछ थोड़ा-बहुत प्रशिक्षण दिया था। वे मरहम-पट्टी कर लेते और इन्जैक्शन भी लगा लेते थे। चन्देल में रह कर वह रोज़ आस-पास के गांवों में से किसी गांव का चक्कर लगाती। या उस गांव में पहले जाती जहां किसी रोगी की हालत ज़्यादा गंभीर होती। कई बार वह रात वापिस न लौट पाती और वहीं रह जाती।

वहां सभी गांवों में लोग उसे 'डाक्टर बीबी' कह कर पुकारते थे। वापिस आते समय वह शेखू और सोमा को बाकी दवाइयां दे आती और समझा देती कि कौन सी दवाई किस बीमारी के रोगी को देनी और कितनी देनी है। कई बार वह बीच में भी दो-चार दिन के लिए छुट्टी लेकर चली जाती। कई लोग पत्र लिखकर उसका परामर्श प्राप्त कर लेते।

वहां दिन भर पैदल चलने से कई बार वह थक कर चूर हो ज ती और कभी-कभी पांवों में छाले भी पड़ जाते। लेकिन दूसरे ही दिन वह अपनी सारी थकावट को भूल कर लोगों की सेवा में जुट

जाती। वह केवल रोगियों का इलाज ही नहीं करती थी अपितु घरों की सफ़ाई करनी, बच्चों को साफ़-सुथरे रखना, बीमारियों से बचना तथा अच्छी खुराक आदि के विषय में भी बताती थी। अब तो उसकी कही हर बात भरत-वाक्य समझी जाने लगी थी, और उसके कहने पर लोग परिवार-नियोजन का भी अनुसरण करने लगे थे।

इसी तरह समय बीतता गया। लोगों पर सुनन्दा के इलाज की छाप जमती गई और साथ-साथ ही उसकी आय भी बढ़ती गई। अब तो उसके घर में इतने मरीज़ आते कि वह न भी नौकरी करती तो हज़ारों में खेल सकती थी। उसकी प्राइवेट प्रैक्टिस बहुत चलती थी। इस पर भी वह नौकरी इस लिए नहीं छोड़ती थी क्योंकि नौकरी छोड़ने पर उसे उन निर्धन लोगों का इलाज करने का अवसर न मिलता, जो फ़ीस न दे सकने के कारण सरकारी हस्पताल का ही सहारा लेते थे। उसके घर में तो वही लोग आते थे जो फ़ीस दे सकते थे, उसे घर पर भी वही बुलाते थे जिनके लिए पैसा कोई चीज़ नहीं थी। जिन लोगों के पास पेट भर खाने को ही मुश्किल से हो वे इलाज का ख़र्च कैसे सहन कर सकते थे? ऐसे लोगों की सेवा करने का अवसर सरकारी हस्पताल में ही मिलता था।

एक दिन हस्पताल में एक ज़च्चा के लिए कुछ इन्जैक्शनों की ज़रूरत पड़ी जो कि हस्पताल में नहीं थे। उसने ज़च्चा के पति को वे इन्जैक्शन लिख दिए। उस व्यक्ति ने घबराई हुई आवाज़ में पूछा, "डाक्टर साहब कितने पैसों में आ जाएगे ?"

"यही कोई तीस-पैंतीस में।"

"तीस-पैंतीस !" उस व्यक्ति ने चौंक कर कहा। "डाक्टर

साहब किसी और तरीके से काम नहीं चल सकता ? मेरे पास—मेरे पास तो साढ़े चार रुपये ही होंगे।"

सुनन्दा ने उस व्यक्ति को सर से लेकर एड़ी तक ध्यान से देखा और फिर अपने कमरे में चली गई। थोड़ी देर बाद लौटकर आई और उस व्यक्ति को चालीस रुपये थमाते हुए बोली, "लो, जाओ इन से ले आओ।'

उस व्यक्ति की आंखों में आंसू आ गये। वह सुनन्दा के पांव छूने को झुका, "डाक्टर साहब मैं आपका किन लफ़्ज़ों से शुक्रिया अदा करूं ··· आप ··· आप ··· सचमुच देवी हैं "

वह पीछे को हट गई और बोली, "जाओ पहले जल्दी से ये इन्जैक्शन ले के आओ।"

चन्देल में गांव के मुखिये ने अपने मकान के साथ एक छोटा सा झोंपड़ा सुनन्दा के लिए डलवा दिया था जहां वह अपनी दवाइयां आदि रख सकती थी और जहां मरीज़ों को देखती थी। एक दिन वह उसी झोंपड़ी में बैठी थी और पास ही मुखिये की बेटी सोमा भी बैठी थी। बाहर वर्षा हो रही थी। सोमा ने पूछा, "डाक्टर बीबी आप ये सब दवाइयां ख़ुद तैयार करती हैं ?"

"नहीं तो। हर दवा बाज़ार से मिल जाती है।"

"अच्छा, तो आप ये सब दवाइयां बाज़ार से लाती हैं ! ख़ूब महंगी आती होंगी ?"

"तुझे इससे मतलब ?"

"मतलब यह कि आपको एक तो हर साल यहां आने में इतना कष्ट उठाना पड़ता है और ऊपर से आप हम लोगों के लिए इतना ख़र्च करती हैं। आप ज़रूर कहीं की राजकुमारी होंगी जो इतना ख़र्च कर सकती हैं।"

"एक बात बता, जब तू किसी रोगी को देखने जाती है या उसे दवा देती है तो तुझे कष्ट होता है ?"

"नहीं डाक्टर बीबी मुझे तो ख़ुशी होती है। मैं आपका बहुत बहुत शुक्रिया अदा करती हूँ कि आपने मुझे रोगियों की कुछ सेवा करने योग्य बना दिया।"

"तो फिर तू ने यह कैसे सोच लिया कि मुझे यहां आते कष्ट होता होगा !'

"लेकिन ख़र्च तो आप करती ही हैं न ?"

"वह कभी मैं कौन से अपने पल्ले से करती हूँ ! लोगों से चन्दा इकट्ठा करती हूँ। लोगों का पैसा लोगों में ख़र्चती हूं तो इसमें मेरा क्या जाता है ?"

"आप हमारे लिए चन्दा इकट्ठा करती रहती हैं ?"

"लोग ख़ुद ही आकर घर में चन्दा दे जाते हैं। मैं किसी से मांगती नहीं।"

"तब तो वहां के लोग बहुत अच्छे हैं, बड़े दयालु हैं !"

"तुम इस गांव से बाहर कभी नहीं गई ?"

"एक बार, जब मैं बहुत छोटी थी।"

"अब जब कभी जाओगी तो जान जाओगी लोग कैसे होते हैं।"

"जाऊंगी, कभी आपके साथ।"

— — — — — —

सुनन्दा की मां और बूढ़ा नौकर कब के चल बसे थे। अब उसके पास एक नौकरानी और एक नौकर था जो आपस में पति-पत्नी थे।

इसी प्रकार वर्षों के बाद वर्ष बीतते गये। और जब सुनन्दा नौकरी से रिटायर हुई तो उसने चन्देल में एक छोटा-सा हस्पताल खोल लिया जहां सभी रोगियों का इलाज किया जाने लगा।

बन्द दरवाज़ा

यों तो जीवन में रोज़ कई घटनाएं घटती हैं और भूल जाती हैं लेकिन कभी-कभी कोई ऐसी घटना भी घटती है जो जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है। ऐसी ही एक घटना मेरे जीवन में भी घटी जब मेरा अचानक उससे परिचय हो गया। परिस्थितियां भी व्यक्ति को कभी-कभी ऐसे मोड़ पर लाकर छोड़ती हैं जहां वह कुछ खो बैठता है या कुछ पा लेता है। उस से परिचय के बाद मैंने क्या खोया क्या पाया, यह तो मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूं—लेकिन ऐसा ज़रूर लगता है कि मैं उसे सदियों से जानता हूं। उसको कितना जानता हूँ, यह मैं आज तक भी नहीं जान पाया।

मेरी नियुक्ति जिस लायब्रेरी में हुई, वह उसमें पहले से ही काम करती थी। इस लिए हमारा परिचय अनिवार्य हो गया। मुझे पहले ही दिन से उसकी शागिर्दी करनी पड़ी। उसने मुझे बड़े तरीके से समझाया कि कौन-कौन सी पुस्तकें कहां रखी हैं—उन्हें कैसे ढूंढ़ना है—कैटलाग में कैसे दर्ज करनी और पुस्तक उधार लेने वाले के कहां हस्ताक्षर करवाने आदि। उसके आदेशों के प्रति विशेष रुचि होने और उसके नम्र स्वभाव के कारण मैं शीघ्र ही अपने काम में आत्स-

निर्भर हो गया। लेकिन फिर भी मैं जानबूझ कर उसकी सहायता प्राप्त करता ताकि उस से बात करने का बहाना मिल जाए। कई बार मैं जानबूझ कर पुस्तकों में उथल-पुथल कर देता और फिर इस प्रतीक्षा में रहता कि उसको मेरे अनाड़ीपन पर गुस्सा आता है कि नहीं। उसको खीझ में भी मुझे प्यार ही छलकता दिखाई देता।

अब हम 'आप' से 'तू' या 'तुम' पर उतर आए थे। औपचारिकता के स्थान पर 'अपनत्व' आ गया था। एक दिन मुझे एक पुस्तक नहीं मिल रही थी। मैं ने बहुत तलाश की लेकिन कहीं न दिखाई दी। मुझे उसकी सहायता की ज़रूरत पड़ी। उसके पास आकर मैंने कहा :—

"निर्मल वह पुस्तक, जो कल तुमने रखी थी, मिल नहीं रही।"

उसने वहीं से अलमारी पर नज़र दौड़ाई और मुस्करा दी। उसकी हंसी में मुझे अपनी किसी मूर्खता का आभास हो गया। वह मेरे साथ अलमारी तक आई और सामने से पुस्तक उठाकर मेरे हाथ में थमाते हुए बोली, "यह क्या है ? तुम तो बिल्कुल बुद्धू हो।"

"तुम्हारा शागिर्द जो ठहरा" मैंने झट उत्तर दिया।

"किसी अकलमन्द को उस्ताद बनाना था न।"

"अब तो गले पड़ा ढोल बजाना ही पड़ेगा" यह बात मेरे मुंह से निकल तो गई लेकिन मुझे एकदम अहिसास हो गया कि मैं हद से अधिक बढ़ गया हूं।

लेकिन उसने उसी अंदाज़ में उत्तर दिया, "ढोल मैं नहीं तुम हो और अब तो मुझे यह ढोल बजाना पड़ेगा।"

इस प्रकार शीघ्र ही हम आपस में बहुत घुल-मिल गये। मैं अधिक से अधिक समय लायब्रेरी में व्यतीत करता। प्रातः लायब्रेरी में जाने की उत्सुकता रहती और शाम को आने को मन न करता। प्रातः को ऐसे लगता कि निर्मल को देखे कई दिन हो गये। और जब उस से मिलता तो ऐसे लगता कि हम अलग हुए ही नहीं थे। वह एक दिन छुट्टी पर जाती तो मेरे लिए दिन बिताना कठिन हो जाता। शाम को ज़रूर उसे घर मिलने जाता। वहां हम घंटों बैठे बातें करते रहते और फिर वह रात का खाना मुझे खिला कर भेजती। हमारी बातचीत खाने-पीने की चीज़ों से शुरू होती और साहित्य के विभिन्न विषयों से गुज़रती हुई—सामाजिक रिवाजों की आलोचना करती हुई दर्शन के गंभीर विषय तक जा पहुंचती। वहां से हम जीवन सम्बन्धी अपने-अपने दृष्टिकोण की बात करते। हम एक दूसरे को पसन्द, एक दूसरे के शौक और एक दूसरे की विचार-धारा से परिचित ही नहीं थे, अपितु एक-दूसरे की परिस्थितियों को भी जानते थे और एक-दूसरे के जीवन का अध्ययन कर चुके थे।

इतना कुछ जानने पर भी मैं निर्मल के मन के भेद को न पा सका था। मैंने घुमा फिरा कर अपने मन की बात कई बार कह दी थी लेकिन सीधे बात करने का कभी साहस नहीं हुआ। लाएब्रेरी में किसी पुस्तक के विषय को लेकर चर्चा शुरू होती और मैं उसी विषय के माध्यम से अथवा पुस्तक के पात्रों द्वारा अपने मन की बात कहने का प्रयास करता। घर में जब सामाजिक प्रतिबन्धों अथवा रीतियों

की बात चलती तो वहां भी मैं मन की बात परोक्ष रूप में कह डालता।

एक दिन दहेज-प्रथा पर चर्चा चल रही थी तो मैंने कहा, "वास्तव में लड़की के माता-पिता का दहेज लेने का हक़ बनता है। लड़के वालों को पली-पलाई जो लड़की मिल जाती है जो अपना घर और अपने माता-पिता, बहन-भाइयों को छोड़ कर आती है—तो और उनको क्या चाहिए? वैसे लेने-देने का काम ही ठप होना चाहिए। ताकि किसी को कठिनाई न हो—बस अंग्रेजी किस्म की शादी होनी चाहिए। दुल्हा और दुल्हन शादी पर पहनने के लिए अपना-अपना सूट सिलवा लें और बस।"

"मिस्टर महेश यह सब कहने की बातें हैं। समय आने पर सब एक-से हो जाते हैं।"

मुझे ऐसा लगा कि निर्मल ने मुझे चुनौती दी हो। जी चाहता था कि उस से चिल्ला कर कह दूं "ज़रा आज़मा के तो देखो।" लेकिन फिर सोचा कि उसने मुझे लगा कर नहीं कहा होगा—यों ही साधारणतः बात की होगी। 'लड़के के ख़ानदान या माता-पिता को ही नहीं देखना चाहिए—बल्कि लड़के को देखना चाहिए कि वह कैसा है—कमाने-खाने योग्य है—पढ़ा लिखा या किसी काम के योग्य है—उसमें कोई बुराई तो नहीं—और उसका स्वभाव कैसा है।" मैं ने फिर वही बात उठाई।

लेकिन वहां उसकी विवशता सामने आ गई। बोली, "सब कुछ अपने ही वश में नहीं होता। हर माता-पिता की यह इच्छा होती

है कि बेटी अच्छे घर में जाए। और फिर बिरादरी वाले ..."

जब उसने 'अच्छे घर' की बात की तो मुझे अपनी सीमा दीखने लगी। गांव में घर—और वह भी कच्चा—उसे अच्छा घर कौन कहेगा। जिस बाप ने दिन-रात मज़दूरी करके अपने बेटे को पढ़ा कर लाएब्रेरी में नौकरी करने योग्य ही मुश्किल से बनाया हो—वह घर "अच्छा" कैसे समझा जा सकता है? यहां मेरा स्वाभिमान मुझे महलों के ख़्वाब देखने से रोक देता कि कहीं ऐसा न हो कि बड़े घर के ख़्वाब देखने से जीवन भर ताने सुनने पड़ें और हीन-भावना के कारण पत्नी और ससुराल के आगे सदैव सिर झुका रहे।

मैंने बातों-बातों में निर्मल को कई बार बता दिया था कि मुझे उसकी अमुक बात बहुत अच्छी लगती है। लेकिन मैं सीधे यह कभी न कह सका—"तुम मुझे अच्छी लगती हो—तुम्हारी यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है और मैं तुम से प्यार करता हूँ।" यह बात मेरे होंठों तक कई बार आई और रुक गई क्योंकि मैं पहले यह जानना चाहता था कि निर्मल मेरे विषय में क्या सोचती है—क्या वह भी मुझे वैसे ही चाहती है। उसके विचार केवल 'विचार-मात्र' ही हैं या वह मेरे विषय में भी वैसा सोचती है। यह बात ऐसी थी कि मैं उससे पूछ नहीं सकता था और वह शायद बता नहीं सकती थी। कई बार मैं सोचता कि उसकी बातें केवल विचार-मात्र ही न हों और इनमें व्यवहारिकता हो ही न। इस लिए मैं मन की बात उसे कहने से डरता था। मेरी केवल-मात्र इच्छा या उत्सुकता यही थी कि वह मेरे बारे क्या सोचती है, उसके मन में मेरे लिए कौन सा स्थान है।

एक साथ काम करने वाले व्यक्तियों की भावुकता परिस्थिति वश भी हो सकती है —जो परिस्थिति के साथ-साथ बदल भी सकती है। उसके स्थाईत्व का प्रमाण एक दूसरे से अलग होने पर ही मिलता है। मेरे सामने एक अति सुन्दर और आकर्षक इमारत थी। यह इमारत मुझे बहुत प्रिया थी लेकिन इसका दरवाज़ा बन्द था। मुझे नहीं मालूम कि इस इमारत के भीतर क्या था—यह अन्दर से कैसी थी। दरवाजा बन्द था और दीवारें ऊंची बहुत थीं जिन्हें मैं फांद नहीं सकता था। यों तो मैं बड़े से बड़े किले की दीवार फांद जाता लेकिन इस ईमारत की दीवारें किले की दीवारों से भी कठिन थीं। ये ईंट-गारे की दीवारें नहीं थीं—सीमेंट, बज्री और लोहे की भी नहीं थीं—ये थीं सामाजिक दीवारें—रीतियों, रूढ़ियों और ऊंच-नीच की दीवारें—ये मैं कैसे फांद सकता था? इन दीवारों के पीछे उसके मन की भावनाओं के भी कई पर्दे थे—जिन्हें वह स्वयं ही उठा सकती थी, मैं नहीं। इस लिए भी मैं इस दीवार को नहीं फांद सकता था कि कहीं मेरा स्वार्थ न सिद्ध हो जाए।

एक वाक्य था—"मैं तुम से प्यार करता हूँ"—जो मैं कह न सका। एक वाक्य था—"मैं भी तुम से प्यार करती हूँ" जो मैं सुन न सका।

एक दिन मैं ने उस से प्रकृति के खुले वातावरण में घूमने की बात की तो वह रो पड़ी। कहने लगी, "मैंने घर से कभी बाहर पांव नहीं रखा। मन में देखने को इच्छा होते हुए भी मैंने बाहर का कुछ नहीं देखा। घर के पिंजरे में ही पल कर मैं बड़ी हुई हूं।"

मेरा जी चाहा कि उसे किसी जंगल में ले जाऊं और वहां उसे

पक्षियों का शोर सुनवाऊं—पानी के झरने दिखाऊं और प्रकृति के सुन्दर दृश्यों के देखने पर उसके मन की प्रतिक्रिया देखूं—उसे गिरती हुई बर्फ़ का सौन्दर्य दिखाऊं। लेकिन यहां फिर बीच में दीवारें आ जातीं। वह मेरी क्या लगती है ?—यह एक दीवार थी। मेरा उस पर क्या हक है ?—यह दूसरी दीवार थी। हमारा इतना गहरा, भावुक सम्बन्ध होने पर भी समाज की नज़रों में हमारा आपस में कोई रिश्ता या कोई सम्बन्ध नहीं था। बस एक ही सम्बन्ध था—हम दोनों एक ही दफ़्तर में काम करते थे—और वह मेरी कोलीग थी।

"कुछ सम्बन्ध या रिश्ते ऐसे होते हैं जिन्हें किसी भी परिभाषा में नहीं बान्धा जा सकता।" एक दिन उसके घर रात का खाना खाते समय मैंने कहा। उसने मेरी बात से सहमति प्रकट की।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने कहा, "लेकिन लोग यह बात कब सोचते हैं।"

"हमारे भाव असीम हैं लेकिन भाषा बहुत सीमित है। कितने ही ऐसे भाव हैं जिनकी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा नहीं मिलती और जब हम किसी भाव को भाषा में बान्धते हैं तो वह सीमित हो जाता है।"

"मन तो बहुत कुछ चाहता है लेकिन सब कुछ अपने बस में नहीं होता।"

"यह तो ठीक है लेकिन कोशिश करना व्यक्ति का कर्तव्य है। जब कोशिश ही न की जाए तो काम कैसे हो सकता है।"

"तुम नहीं जानते एक लड़की पर कितनी मजबूरियां होती हैं।"

"मजबूरियां होती तो हैं, लेकिन कुछ मजबूरियां लड़कियां स्वयं ही लाद लेती हैं जो कि वास्तव में होती नहीं। प्रयास करने से ही मजबूरी पर काबू पाया जा सकता है। यदि मजबूरी को 'मजबूरी' समझ कर पड़े रहें तो वह भी बनी रहेगी।"

"जिस वस्तु की प्राप्ति ही नहीं होनी या जो मिलकर छिन जाए उसके लिए प्रयास क्या करना।"

"जितनी देर किसी वस्तु का सुख मिले उतना ही सही। सुख के जितने क्षण मिल सकें उन्हें तो प्राप्त करना चाहिए।"

"मैंने तो मन को मार लिया है। अब किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती।"

"इच्छा तो ज़रूर होती है लेकिन हम इच्छा को दबा लेते हैं। कई बार तो यह इच्छा इतना तीव्र रूप धारण कर लेती है कि भावुकता में उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द नहीं मिलते। तब व्यक्ति उसे शारीरिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त करने का प्रयास करता है। जैसे किसी संकट से बच जाने पर या कोई तोतली बात सुन कर मां बच्चे को बाहों में दबा लेती है और उसका चुम्बन करती है—क्योंकि उसे अपनी ममता जताने को और कोई माध्यम अथवा शब्द नहीं मिलते।"

निर्मल ने मेरी ओर एक टक देखा और नज़र फेर ली। कई बार जब उसे कोई उपयुक्त शब्द अपनी बात कहने को न मिलते

अथवा जब वह किसी बात को न कहना चाहती हो तो मेरी ओर ख़ामोशी से देखती। काश मैं उसकी ख़ामोशी को पढ़ सकता - काश मैं उसकी आंखों की मूक भाषा को सुन सकता। मुझे बोलने की और उसे चुप रहने की अधिक आदत थी। उसकी एक बात से मुझे लगता कि वह मुझ से प्यार करती है—लेकिन दूसरी बात पर लगता कि उसका सब के साथ ऐसा ही व्यवहार है। मेरे नाराज़ होने पर वह मुझे मनाती—मेरी बात मानती - और वह काम करती जो मुझे अच्छा लगता हो। उसे मालूम था कि मुझे उसे कोई वस्तु देकर बहुत ख़ुशी होती है। इस लिए वह सहर्ष मेरी वस्तु स्वीकार करती। उसे मालूम था कि जब वह मेरे बुलाने पर घर न आए तो मुझे दु:ख भी होता था और उस पर ख़ूब ग़ुस्सा भी आता था। इस लिए वह कई काम छोड़ कर भी ज़रूर आती।

यह तो मैं जानता था कि वह मेरे साथ बातें करके, मेरे साथ समय बिता कर बहुत ख़ुश होती है। लेकिन इसके आगे क्या था — यह मैं नहीं जानता था। कई बार मुझे उस पर इतना ग़ुस्सा भी आया कि मैंने उस से बात तक न करने का निश्चय किया। वह आप जो चाहे कहदे मैं ने बुरा नहीं मनाया लेकिन जब वह किसी दूसरे से बात कहलवा भेजती तो मुझे बहुत ग़ुस्सा आता। एक बार मैं ने उसके प्रति अपने भावों को एक गीत में बांध कर उसे दिया। और फिर उसे अपनी लिखी कहानियां दिखाईं। उसने एक अन्य व्यक्ति के हाथ वह कहानियां वापस भेजीं। मुझे बहुत ग़ुस्सा आया। "भला ऐसी भी क्या जल्दी थी?" मैंने मन-ही-मन उस से प्रश्न किया। "जब मिलते तो वह स्वयं लौटा सकती थी।"

मेरे क्रोध की सीमा न रही जब मैं ने कहानियों में काग़ज़ का

वह पुर्ज़ा भी पाया जिस पर मैं ने गीत लिखा था।

"उसने मेरा मज़ाक उड़ाया है" मैं ने सोचा। "भला किसी के हाथ इसे भेजने की क्या ज़रूरत थी। उसने पढ़ा होगा तो क्या सोचता होगा। इस लड़की को अपनी बदनामी का भी ख़्याल नहीं। इसे फाड़ देती, जला देती या स्वयं लौटा देती—लेकिन ऐसा तो न करती। हमने कौन सा फिर मिलना नहीं था।"

ऐसे कई विचार मेरे मन में आए। इसी ग़ुस्से में आकर मैं ने कई दिन तक उससे बात नहीं की और न ही उसके घर गया। एक दिन उसने मुझे कहा कि उसकी मां ने मुझे बुलाया है। मैं उसके घर गया। क्योंकि उसकी मां मुझ से बहुत प्यार करती थी और सदैव यही कहा करती, "बेटा निर्मल का ख़्याल रखा करो। तुम्हारे वहां होने से मुझे बहुत तसल्ली रहती है।"

घर जाते ही मुझे निर्मल की चालाकी का पता चल गया कि मां ने नहीं बल्कि उसने खुद बुलाया है। लाएब्रेरी में सबके सामने मुझे मनाने से झिजकती होगी इस लिए मुझे घर बुला लिया। उसके अनुरोध पर मैंने अपनी नाराज़गी का कारण बताया। लेकिन उसने अपनी भूल की क्षमा नहीं मांगी और न ही यह अहिसास किया कि उसने सचमुच भूल की है। उल्टा कहने लगी, "गीत अच्छा था, मैंने मां को भी दिखाया था।"

मुझे और भी ग़ुस्सा आया और मैं उठकर आ गया।

दूसरे दिन लाएब्रेरी में उसने मुझ से कहा, "आज मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे घर चलूंगी ले चलोगे ?"

मेरा मन खुशी से उछल पड़ा, लेकिन अपना ग़ुस्सा जारी रखने का दिखावा करने के लिए मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

वह फिर बोली, "हम इस काबिल कहां कि कोई हम से बात करे।"

उसकी यह चोट मुझे बहुत अखरी। "भला यह भी कोई मनाने का ढंग है?" मैंने मन ही मन कहा। "या तो यह लड़की मनाना जानती नहीं या फिर मनाना चाहती ही नहीं। लेकिन इसका मेरे साथ घर जाने को तैयार होना भी तो मनाने से कम नहीं।"

मैंने एक पुस्तक के पन्ने पलटते हुए कहा, "यह बात नहीं कि हम में सच कहने की हिम्मत नहीं होती अपितु सच तो यह है कि सुनने वाले में कई बार सच सुनने का साहस नहीं होता। सच्ची बात कहते समय हमें यह भी तो सोचना पड़ता है कि हमारे सच की सुनने वाले पर क्या प्रतिक्रिया हो सकती है।—कहीं उसके दिल को ठेस न लगे—कहीं उसका विश्वास न टूट जाए—और कहीं वह हमें गलत न समझने लगे—इस तरह हम उसे कहीं खो न बैठें—वह यह न कहे, "मुझे तुम से यह उम्मीद नहीं थी।"

"किसी का दिल रखने के लिए झूठ बोलना भी ठीक नहीं।"

"दिल रखना भी ज़रूरी है। लेकिन सुनने वाले को कहने वाले की मन की सफाई की, और सत्य-प्रियता को भी प्रशंसा करनी चाहिए। यदि वह मन की सच्ची बात न भी कहे तो उसके मन में आई बात जा नहीं सकती। वह बात तो मन में रहेगी और न जाने कितनी देर मन के उपचेतन भाग में पड़ी रहेगी। जो बात मन

में है, उसे कहने में क्या हानि ? इससे व्यक्ति के मन का भी पता लग जाता है।"

"कौन जाने किसके मन में क्या है। लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।"

"कहने और करने की बात मैं नहीं करता—मैं सोचने और करने की बात करता हूँ। व्यक्ति जैसे सोचे—या जो विचार उसके मन में हो वैसा ही करे। लोग मन की बात छुपाते हैं, यह नहीं होना चाहिए।"

"पुरुषों की बात पर विश्वास कौन करे !" उसने फिर चोट की। "जहां अच्छी सूरत देखी, वहां लट्टू हो गये।"

"सिर्फ़ अच्छी सूरत ही लट्टू होने का कारण नहीं होती—और भी बहुत सी बातें होती हैं।" मैंने उसके इस आरोप को अपने पर ले लिया। "एक ही स्थान पर आम और नीम का पेड़ उग आता है। एक ही मट्टी से दोनों पेड़ अपनी आवश्यकतानुसार रस ग्रहण करते हैं। दोनों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता। हमारा जीवन भी ऐसा ही है। वह भी आवश्यकतानुसार जीवन-स्रोतों से रस प्राप्त करता रहता है। जहां-जहां भी उसे ऐसे स्रोत मिलते हैं, वहां यह जीवन आकर्षित होता है और उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।"

"मैं इस बात को नहीं मानती। क्योंकि सम्बन्ध तो एक ही स्थान पर जुड़ता है। कई बार तो जीवन से बहुत निराशा होती है। कि जीवन क्या है ! क्योंकि कई बार सब कुछ मिलने पर भी मन को सन्तुष्टि नहीं होती।"

"जीवन एक प्रक्रिया है—जो पूर्णता की ओर सदैव अग्रसर रहता है लेकिन पूर्ण कभी नहीं होता—क्योंकि पूर्णता की सीमा कोई नहीं। इसका विकास जारी रहता है। इसको पूर्ण करने में कई स्रोत योग-दान देते हैं। जैसे एक मिक्सचर बनाने में कई दवाइयों को मिलाना पड़ता है वैसे ही जीवन को कई तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है और इन सब तत्त्वों के अलग-अलग स्रोत होते हैं। जिस स्रोत से भी ऐसा तत्त्व मिलता है, उधर ही जीवन का झुकाव होता है। यही कारण है, जिसे तुम हर अच्छी सूरत पर लट्टू होना कहती हो।"

"तुम्हारा मतलब है जब जीवन को एक ही स्रोत से सारे आवश्यक तत्त्व नहीं मिलते तभी उसका झुकाव दूसरी ओर होता है ?"

"बिल्कुल ! और सारे तत्त्व एक ही स्रोत में कभी मिल भी नहीं सकते। मेरी इस धारणा से भले ही तुम भयभीत हो, लेकिन मैं इस धारणा को बदल नहीं सकता और न इसे छिपा सकता हूं। मैं जानता हूं मेरे यही विचार मेरी तबाही का कारण बनेंगे।"

"फिर तुम से कोई लड़की वफ़ा की क्या उम्मीद रख सकती है ?"

"कोई भले ही उम्मीद न रखे—लेकिन मेरा स्वाभिमान किसी से बेवफ़ाई करने की अनुमति कभी न देगा—मेरी आत्मा यह कभी न होने देगी। जो भी स्रोत जीवन के साथ जुड़ जाते हैं, वे फिर जुड़े ही रहते हैं। वे जीवन और पूर्ण स्मृति का अंग बन जाते हैं। उन से नाता तभी टूटता है, जब जीवन की डोरी टूटती है। अगले पिछले जन्म के बारे तो मैं कुछ नहीं कह सकता।"

"लेकिन एक साथ सब के साथ वफ़ा निभानी कैसे संभव हो सकती है। यह तो तभी हो सकता है जब सम्बन्ध बना रहे।"

"मैं शरीर के सम्बन्ध को ही सम्बन्ध नहीं मानता। सम्बन्ध मन का, आत्मा का और भावात्मक भी हो सकता है। किसी से यही सम्बन्ध क्या कम है कि उसकी याद मन में समाई रहे—उससे जीवन को प्रेरणा मिलती रहे—उससे भावात्मक सम्बन्ध बना रहे। इस सोच से मन को कितना आनन्द मिलता है कि अमुक स्थान पर कोई 'अपना' है, जिसके मन में मेरे लिए सहानुभूति, सहभाव और प्यार अथवा स्नेह है।"

"तुम तो ख़्याली पलाव पकाते हो। व्यवहारिक रूप में यह सब कुछ संभव नहीं।"

"मेरे इन विचारों में और व्यवहारिक जीवन में कोई अन्तर नहीं। मैंने कहा था न कि हम सच कहने से नहीं डरते—केवल सच की प्रतिक्रिया से डरते हैं।"

"अच्छा ! तो बताओ फिर आज तक कितनी लड़कियों से प्यार किया है और कितनों के साथ निभाया है ?"

"जिन से भी किया है, करता रहूँगा। मेरा मन तो ऐसा मन्दिर है जहां जितनी भी मूर्तियां स्थापित हैं—उन सब की पूजा होती है—किसी से विरोध नहीं सब का अपना पृथक स्थान है और सबको यथायुक्त अधिकार मिलता है। जैसा जिसका स्थान है, वैसी ही उसकी पूजा होती है। एक का स्थान दूसरी मूर्ति नहीं ले सकती—क्योंकि एक जैसे दो व्यक्ति नहीं होते, इस लिए एक व्यक्ति का स्थान कभी दूसरा व्यक्ति नहीं ले सकता।"

"अपनी समझ में तुम्हारी फ़िलासफ़ी नहीं आती।"

"तुम्हें आता क्या है ?"

"पुस्तकें संभालना।"

"बस पुस्तकें ही संभाल सकती हो, और कुछ नहीं ?"

"और इण्डैक्स-कार्ड भी।"

"किसी पुस्तक में कभी झांक कर भी देखा है ?"

"पहले और अन्तिम पन्ने पर।"

"कभी कोई पुस्तक पढ़ कर भी देखा करो।"

"पढ़ रही हूं एक।"

"कौन सी ?"

"पढ़ कर बताऊं गी।"

कौन सी पुस्तक वह पढ़ रही थी—यह उसने कभी नहीं बताया—लेकिन इतना मैं समझ गया था कि उसका संकेत मेरी ओर ही था।

"मैं एक महीने की छुट्टी पर चला गया। छुट्टी के दौरान मैं बराबर उसे पत्र लिखता रहा और अपने विचारों को घुमा-फिरा कर व्यक्त करने का प्रयास करता रहा। उसने कभी मेरे पत्र का उत्तर नहीं दिया।"

जब मैं लौटा तो मन में बड़ी उत्सुकता थी—उसे मिलने को मन छटपटा रहा था। लेकिन लाएब्रेरी में जाकर देखा तो वहां एक और व्यक्ति निर्मल के स्थान पर आ गया था। मुझे पता लगा कि

निर्मल की शादी होने वाली है इस लिए शादी की तैयारी के लिए वह नौकरी ही छोड़ गई है। मेरा मन एक दम बैठ गया। साथ ही एक बात पर ग़ुस्सा भी आया कि निर्मल ने मुझे इस क़ाबिल भी नहीं समझा कि अपने विवाह के सम्बन्ध में सूचित करती। मैंने भी निर्णय कर लिया कि उसके घर नही जाऊंगा।

कुछ दिन यों ही बीत गये और एक दिन वह आई। शादी का निमन्त्रण-पत्र देने आई थी। कितनी देर वह मेरे पास खड़ी रही शायद कुछ कहना चाहती थी, लेकिन कह नहीं पा रही थी फिर उसने कार्ड मुझे थमाया और उसी समय उसकी आंखें छलक पड़ीं।

कार्ड थमाकर एक दम आंखें पोंछते हुए बिना कुछ कहे वह चली गई। ऐसे लगता था मानो उसने अपनी चीख़ को बड़ी मुश्किल से होठों में दबा रखा हो।

आज जब बन्द दरवाज़ा खुला तो वह मुझ से बहुत दूर जा चुकी थी।

सत्य और तथ्य

सतीश ने अस्लम के साथ दफ़्तर में ही उस दिन शाम को नुमाइश देखने का प्रोग्राम तय कर लिया। अस्लम का घर नुमाइश के रास्ते में ही पड़ता था, इस लिए तय यह हुआ कि सतीश देवकी को लेकर अस्लम को रास्ते से ही अपने साथ ले लेगा। वैसे भी अस्लम के लिए बीवी और दोनों बच्चों को लेकर सतीश के घर आना और फिर वहां से वापिस जाने में अधिक परेशानी होती।

लेकिन सतीश के घर पहुंचने पर कुछ और ही बात बन गई। देवकी चारपाई पर लेटी हल्की-हल्की कराह रही थी। सतीश के पूछने पर उसने बताया कि उसका सिर दर्द से फटा जा रहा है और हल्का सा बुख़ार भी है। यह देखकर सतीश को कुछ खीझ-सी आई। उसे यह कभी पसन्द नहीं आया कि उसके बनाए प्रोग्राम में किसी क़िस्म की रुकावट पड़े। वह बोला, "तुम्हारा सिरदर्द भी अजीब है, कभी तुम्हारा पीछा ही नहीं छोड़ता।"

इसमें शक नहीं कि देवकी को अकसर सिर दर्द रहता था लेकिन पति के इस व्यंग्य-प्रहार ने उसके सिर दर्द को मानो सारे

जिस्म में बिखेर दिया। उसने मन-ही-मन कहा, "मुझे कोई शौक तो नहीं है बीमारी का," लेकिन बोली कुछ नहीं। सतीश ने उसके माथे पर हाथ रखा और कहा, "बुखार तो मामूली-सा है। उठो चाय के प्याले के साथ एक गोली खा लो, आराम आ जाएगा। और जल्दी से तैयार हो जाओ! नुमाइश देखने जाना है। अस्लम हमारा इन्तेज़ार करता होगा।"

"मेरे लिए तो चाय बनाना भी मुश्किल है और आप नुमाइश में जाने को कहते हैं। मुझसे तो चला भी नहीं जाएगा। आप ही जा आएं। आज चाय भी आप हो बना लीजिए न।"

"ओ हो तुम कुछ कर भी सकती हो!" सतीश ने खीझकर कहा।

"अच्छा, चाय मैं बना लाता हूं लेकिन तुम उठकर तैयार तो हो। ज़रा बाहर निकलो, घूमो-फिरो और फिर देखना तुम खुद-बखुद ठीक हो जाओगी।"

देवकी ने सतीश के मुख पर क्षोभ, अवहेलना और क्रोध के भावों को अच्छी तरह पढ़ लिया था। ये भाव नये नहीं थे वह इनसे अच्छी तरह परिचित थी। क्योंकि बीमारी उसके बस का रोग नहीं था और क्षोभ सतीश के बस का रोग नहीं था। दोनों अपनी-अपनी जगह विवश थे।

देवकी उठी और स्वयं ही चाय बना कर ले आई। चाय पी कर वह नुमाइश में जाने को तैयार हो गई। वहां पहुंचकर जब नुमइश का अभी एक तिहाई भाग ही देखा होगा कि उसका साहस

जवाब दे गया। उसने सतीश से कहा, "मुझ से अब बिल्कुल नहीं चला जाता, टांगें बहुत थक गई हैं और सर दर्द से बस फटा जा रहा है।"

सतीश ने एक पल में सारी स्थिति को देखा, कि देवकी को इस तरह अपने साथ घसीटना ठीक नहीं, न ही उसे कहीं बिठाकर ख़ुद घूमना ठीक है और ठीक यही है कि अस्लम से आज्ञा लेकर घर चला जाए।

घर पहुँच कर देवकी ने सतीश से ज़रा टांगें दबाने को कहा। सतीश, जो अभी तक अपने क्रोध पर मुश्किल से काबू पाए हुए था, एक दम बरस पड़ा, "तुम तो बस दो क़दम चलकर थक जाती हो। लोग इतना-इतना सफ़र करते हैं, इतना घूमते हैं, लेकिन तुम तो बस मोम की बनी लगती हो।"

देवकी ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया—देती भी क्या? सतीश ने उसकी टांगें भी दबा दीं और देवकी ने उसी हालत में खाना बनाया, पति को खिलाया और ख़ुद भूख न होने का बहाना करके सो गई।

सुबह उठकर उसने समय पर नाश्ता तैयार किया और दोपहर का खाना पका कर दो टिफनों में डाल दिया। वे दोनों दोपहर के लिए अपना-अपना खाना साथ ले जाते थे।

वह दिन तो ठीक-ठाक गुज़र गया। लेकिन दूसरे दिन जब देवकी स्कूल से वापिस लौटी तो उसकी तबीयत फिर ख़राब हो गई। वह बार-बार सतीश से कहती कि उसका दिल घबरा रहा है लेकिन

इससे सतीश का क्रोध और बढ़ता जा रहा था। आख़िर देवकी को उल्टियां शुरू हो गईं। उल्टियों के मारे उसका बुरा हाल था, आंखें बाहर को आती थीं, और माथे पर पसीना छूट रहा था। सतीश ने उसका माथा पकड़ रखा फिर पानी लाकर दिया। उसे देवकी की दयनीय दशा पर दया भी आती और अपने पर ग़ुस्सा भी आता। "उसकी इतनी दयनीय दशा पर भी मुझे उसके साथ सहानुभूति की अपेक्षा ग़ुस्सा क्यों आ रहा है?" उसे यह स्पष्ट हो गया था कि देवकी को फ़ूड-पोएज़न हो गया है। उसने प्याज़ काटकर नमक लगा कर उसे खाने को दिया। फिर पुदीने की चाय बना कर दी, लेकिन आधी रात तक तो देवकी की हालत बहुत ख़राब रही। आधी रात के बाद उसे कहीं आराम आया।

सुबह उठकर उसने जब देवकी को देखा तो वह ऐसे लग रही थी जैसे महीने से बीमार पड़ी हो। सतीश ने कमरा साफ़ किया, देवकी को दवा ला कर पिलाई और फिर वह दफ़्तर चला गया।

दफ़्तर से वापसी पर उसने देवकी को जब रसोई में बैठे सब्ज़ी काटते देखा तो उसे बहुत ख़ुशी हुई कि देवकी की तबीयत ठीक हो गई है। उसने देवकी के साथ मिलकर खाना पकाने का काम करवा दिया। चाय भी वहीं बैठकर पी और फिर देवकी को थोड़ी दूर तक घुमा भी लाया। एक बार देवकी को खांसी आई तो उससे खांसा न गया।

"छाती, पसलियां और सारे पट्ठे दर्द करते हैं, जब खांसती हूँ। कन्धे और छाती तो लगातर दर्द कर रही है।" देवकी ने सतीश को बताया।

सतीश ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "यह सब उल्टियां करने की वजह से है। सारा जिस्म तो खिंच जाता है। इतने खिचाव की वजह से ही दर्द हो रहा हे। जल्दी ठीक हो जाएगा।"

इसी तरह कुछ दिन ग्रौर कट गये। वे दोनों रोज़ शाम को घूमने जाते ग्रौर ख़ूब सैर करके, रास्ते में एक-आध परिचित के घर भी हो ग्राते। एक दिन शाम को दानों पिक्चर देखने चले गये। पिक्चर देखकर जब वे सिनेमा हाल से बाहर निकले तो देवकी ने फिर दर्द की शिकायत की। घर पहुँचने तक वह सतीश से बार-बार यही कहती आई कि उसका सिर दर्द से फटा जा रहा है। घर पहुँच कर सतीश से फिर न रहा गया और उसने कह ही दिया, "कोई दिन ऐसा भी होता है जब तुम्हें सिर दर्द न हो! घर बैठो तब सिर-दर्द, ज़रा बाहर निकलो तब सिर दद ग्रौर पिक्चर देखो तब सिर दर्द।"

देवकी ने सहमी सी आवाज़ में उत्तर दिया, "शायद नज़र कमज़ोर हो गई है, इस लिए सिर दुखता है।"

"जब तुझे कहता हूं कि नज़र टैस्ट करवा लो तब भी तो तू नहीं मानती।" सतीश को गुस्सा निकालने का बहाना मिल गया।

'ऐनक लगवाने को मेरा दिल नहीं मानता। और फिर पढ़ने में भी मुझे नज़र की कोई कठिनाई पेश नहीं आती।"

ग्राज सतीश देवकी से बातें करनी चहाता था लेकिन देवकी हर बात में यही कहती कि उसका सिर बहुत दुखता है इस लिए वह सोना चाहती है। ग्रन्त में सतीश ने खीझकर एक पुस्तक निकाली और पढ़ने बैठ गया। उसने दो-तीन बार देवकी को जगाया लेकिन

देवकी ने हर बार खीझकर यही कहा कि उसे सोने दिया जाये। देवकी को यह नहीं पसन्द था कि उसे सोई हुई को कोई जगाए या परेशान करे. और सतीश को उसका अधिक सोना पसन्द नहीं था।

प्रातः उठकर देवकी को अनुभव हुआ कि उसका बदन टूट रहा था। उसने सतीश से कहा, "ऐसा लगता है कि कहीं रात को शरीर में हवा लग गई है सारे अंग टूट रहे हैं।"

"जब तुम्हें अपनी तबीयत का पता है तो फिर तुम अपना ख़्याल क्यों नहीं रखती ? एक दम बिस्तर से निकलकर बाहर चली जाती हो, हवा नहीं लगेगी तो और क्या होगा।"

देवकी का आज स्कूल जाने को मन नहीं मानता था लेकिन इतनी सी बात के लिए वह छुट्टी भी नहीं लेना चाहती थी इस लिए उसे जाना ही पड़ा।

शाम को जब वह वापिस लौटी तो बुख़ार फिर तेज़ था। सतीश उस से थोड़ी देर पहले ही घर आ गया था। वह कुर्सी पर बैठा अख़बार पढ़ रहा था कि देवकी उसके पास आकर खड़ी हो गई और बोली, "देखो मुझे आज फिर बुख़ार हो गया।"

सतीश ने उसे हल्का सा पीछे धकेल दिया और बोला, "तुम तो दुनिया भर की बीमारियों का अपने नाम पट्टा लिखवा लाई हो। जो बीमारी है तुम्हें ही लगती है। कभी सिर-दर्द, कभी कन्धों में दर्द, कभी टांगें और बाजु दुखते हैं, कभी खांसी, कभी बुख़ार और कभी हैज़ा। क्या इतनी बीमारियां तुम विरास्त में ही लाई हो?"

ये सब बातें सतीश ने देवकी से हंसी में कही थीं। लेकिन देवकी इस हंसी के पीछे छिपे क्षोभ को प्रत्यक्ष देख रही थी। उसे मालूम था कि इस हंसी के पीछे कितना क्षोभ, कितनी निराशा, दमित-भाव और कितनी वेदना छिपी है। वह सतीश की पत्नी थी इस लिए सतीश की प्रत्येक बात का आशय वह भली भांति समझती थी। लेकिन वह विवश थी, कर कुछ न सकती थी। वह देख रही थी कि विवाह के बाद जो सतीश उस पर जान छिड़कता था वही सतीश अब चिड़चिड़ा होता जा रहा था। छोटी-छोटी बात पर बरस पड़ता। कहां उसे ज़रा-सा कष्ट होता तो एक दम चिन्तित हो जाता था, कहां अब उसके बीमार पड़ने पर भी उसके प्रति उदासीन दीखता था। यह परिवर्तन देखकर उसका मन बहुत दुःखी होता। फिर वह यह कह कर स्वयं को सांत्वना देती कि इसमें उसका भी क्या दोष है। उसे क्या मालूम था कि मुझे हर दम कोई-न-कोई रोग घेरे ही रहेगा। आख़र वह भी तो एक इनसान है। मेरी बीमारी से उसका तंग पड़ जाना स्वाभाविक ही है। देवकी ने भी वैसे ही हंसते हुए कहा, "तुम भी सोचते होगे कि क्या इस 'बीमारी' को गले लगा लिया। तुमने यों ही मुझ से शादी कर ली। अब तो पछताते होगे—है न ?"

सतीश ने भी देवकी की इस हंसी के पीछे छिपे दुःख को, निराशा को पढ़ लिया। कितना कटु सत्य उसने कह दिया था। देवकी ने सचमुच ही सतीश के मुंह की बात छीन ली थी। सतीश इस तथ्य को स्वीकार करने से कांपता था।

कई बार हमारे मन के भाव छिपाने का यह कारण नहीं होता कि हम में सच कहने की हिम्मत नहीं होती, बल्कि हमें यह शंका होती है कि सुनने वाला सच सुन न सकेगा। शायद इसी लिए सतीश भी

सच कहने से भयभोत था। नहीं तो वह झट कह देता, "हां, सचमुच मैं तुम्हारी बीमारियों से तंग आ गया हूं। मुझे नहीं मालूम था कि तुम्हें कोई-न-कोई रोग लगा ही रहेगा। मैंने तो सोचा था कि तुम हमेशा मेरे साथ नाचती-गाती चुस्त बनी रहोगी। और मेरे कदमों के साथ कदम मिलाकर, कन्धे के साथ कन्धा मिलाकर हर मुश्किल घाटी तक मेरा साथ दोगी। लेकिन तुमने तो मुझे भी घर में बान्ध लिया।"

लेकिन दूसरे हा क्षण उसने अपने मन के इन सारे भावों को काट दिया। उसने देवकी की ओर करुणा भरी दृष्टि से देखा और मन-ही-मन बोला, "नहीं देवकी, तुम अब भी मेरे लिए वही देवकी हो—वही देवकी जो इस घर में दुल्हन बन कर आई थी, वही जिसे मैंने जीवन साथी चुना। मैंने खुद तुम्हें अपना जोवन-साथो चुना है, अगर मैं तुम्हारा साथ न दूंगा तो यह मेरी नैतिक पराजय होगी। मेरे अहम की पराजय !! नहीं, मैं पराजित नहीं हूंगा। मेरा क्रोध, मेरा क्षोभ क्यों आकर मुझे दबा लेता है। दुःख-सुख तो जोवन के साथ होता ही है। एक बीमार को सहनुभूति और प्यार की ज़रूरत होती है। मेरे प्यार और सहानुभूति को मेरा क्षोभ और चिड़चिड़ापन आकर क्यों दबा लेते हैं। दबाते भो उसी समय जबकि प्यार और सहानुभूति जताने का समय आता है।"

यह बात सोचकर कई बार सतीश को अपने पर ही ग़ुस्सा आ जाता और आत्म-ग्लानि होने लगतो। देवकी के प्रति खीझ क्षण भर के लिए होती लेकिन इस खीझ के लिए उसे कितनी ही देर तक आत्म-वेदना और आत्म-प्रताड़ना सहन करना पड़ती। मन से वह

सोचता कि उसे देवकी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। लेकिन कर्म से वह वही करता जिसे करना नहीं चाहता था। व्यवहार की इसी दुर्बलता के कारण उसे आत्म-पीड़ा सहनी पड़ती। उसे यह खेद होता कि वह देवकी के साथ उपयुक्त समय पर प्यार और सहानुभूति नहीं जता पाता जिससे वह और दुःखी होती होगी।

देवकी को यह खेद था कि वह सतीश को सुख देने की अपेक्षा दुःख दे रही थी, परेशान कर रही थी और उसके जीवन में ज़हर घोल रही थी। एक तो बीमारी का दुःख और ऊपर से पति की परेशानी का दुःख—बस चक्की के दो पाटों में पिसने वाली बात थी।

सतीश अखबार पढ़ने में व्यस्त था। उसने देवकी की बात का उत्तर नहीं दिया था। आंखें उसकी अखबार के पन्नों पर घूम रही थीं लेकिन मन में एक अजीब संघर्ष जारी था। देवकी रसोई में जाकर काम में लग गई। सतीश जानता था कि उसमें सहन शीलता का अभाव है लेकिन इस पराजय को वह स्वीकारना नहीं चाहता था। परिणाम यह होता कि इस पराजय का गुस्सा भी देवकी पर ही निकलता।

खाना खाकर आज सतीश अकेला ही घूमने निकल गया। उसे मालूम था कि देवकी बुख़ार के कारण उसका साथ न दे सकेगी। इसके अतिरिक्त उसके मन का जो बोझ बढ़ गया था, उसे वह बाहर खुले वातावरण में जाकर हलका करना चाहता था।

आकाश में बादल घिरे हुए थे। उनमें से कहीं-कहीं चान्दनी छन कर नीचे बरस रही थी। थोड़ी देर पहले हल्की सी बून्दा-बान्दी भी हो चुकी थी। वर्षा की यह फुहार सतीश को हर मौसम में बेहद

पसन्द थी। विशेषकर इस फुहार में घूमना तो उसे और भी अच्छा लगता था।

वह अपने ही ध्यान में खोया सड़क के किनारे-किनारे चला जा रहा था। उसे कोई ज्ञान न था कि वह घर से कितना दूर आ गया था। न उसने बादलों को ही इधर-उधर से उमड़ कर एक स्थान पर एकत्रित होते देखा। उसका ध्यान तभी चौंका जब उस पर वर्षा की मोटी-मोटी बून्दें पड़ने लगीं। आस-पास सर छुपाने को कोई स्थान नहीं था। वह पीछे को लौट पड़ा। उसके क़दम और तेज़ उठने लगे। फिर वह दौड़ने लगा। लेकिन थक जाने पर उसने फिर धीरे चलना शुरू कर दिया।

घर पहुंचने तक सतीश ख़ूब अच्छी तरह भीग चुका था। जब देवकी ने उसकी यह दशा देखी तो एक दम अन्दर से सूखे कपड़े निकाल कर ले आई और कहने लगी, "आप छाता क्यों नहीं ले गये? इतने ज़ोर की बारिश हो रही है और आप इस बारिश में सैर करते रहे। हाय राम इतनी सर्दी पड़ रही है।"

थोड़ी ही देर में देवकी चाय भी बना लाई। सतीश कपड़े बदल कर बिस्तरे में घुस चुका था। उसने चाय पी लेकिन उसकी सर्दी बढ़ती ही जा रही थी। उसने लेहाफ़ के ऊपर कम्बल डलवाया लेकिन फिर भी सर्दी लग रही थी। देवकी ने एक और लेहाफ डाल दिया। जल्दी-जल्दी में वह पड़ोस के दो घरों से पूछ भी आई कि किसी के पास कोई दो चमच बरांडी मिल जाए। लेकिन मिली नहीं। सतीश को यह सब कुछ मालूम नहीं था। हां वह लेहाफ़ में मुंह सिर छिपाए इतना ज़रूर सोच रहा था कि अगर उसकी जगह देवकी इस तरह

बीमार पड़ती तो वह ज़रूर उसे जली-कटी सुनाता। लेकिन देवकी ने एक शब्द भी न कहा था। उल्टा वह बहुत चिन्तित थी और इधर-उधर परेशान फिरती थी। बार-बार पूछ रही थी, "अब कैसे लगता है? अब क्या हाल है? कुछ सर्दी कम हुई कि नहीं?"

सतीश को उसका यों बार-बार पूछना बहुत अच्छा लग रहा था। कभी वह आकर उसका सिर दबाती तो उसका मन चाहता कि देवकी इसी तरह सिर दबाती रहे। देवकी की सेवा में कितनी चिन्ता थी, सहानुभूति थी, प्यार था और नम्रता थी। सतीश सोच रहा था कि वह भी देवकी के साथ ऐसा ही व्यवहार क्यों नहीं कर पाता! अब उसे अनुभव हुआ कि बीमार को कितनी सहानुभूति, प्यार और सेवा की ज़रूरत होती है। अब उसे देवकी की महानता और अपनी हीनता का अन्तर स्पष्ट दीखने लगा। "दु:ख सुख तो सभी के साथ होता है। लेकिन किसी का सस्नेही व्यवहार दु:ख को सुख में बदल देता है," वह सोचने लगा।

इन्हीं विचारों में खोया वह सो गया। देवकी ने माथे पर हाथ रख कर देखा, बुख़ार काफ़ी तेज़ था। वह पास ही कुर्सी पर बैठ गई ताकि सतीश को जब भी किसी चीज़ की ज़रूरत पड़े तो वह जल्दी से दे दे।

रात के सन्नाटे में कहीं से चार बजने की आवाज़ आई, सतीश को आंख खुल गई। उसे ऐसा लगा कि बत्ती अभी तक जल रही है। उसने मुंह नंगा करके देखा तो देवकी पास कुर्सी पर बैठी-बैठी ही सो गई थी। उसने देवकी का हाथ पकड़ कर झंझोड़ा 'देवकी'!

वह जाग पड़ी। लेकिन यह क्या! सतीश ने फिर प्रश्नवाचक

स्वर में पुकारा, "देवकी ! तुम्हें इतना बुख़ार ? तुम सोई क्यों नहीं ?"

सचमुच देवकी को बहुत बुख़ार था, लेकिन उसने जताया नहीं था। अब सतीश को अहिसास हुआ कि शायद देवकी को इतने ज़ोर का बुख़ार शाम से ही था, जब वह स्कूल से आई थी। "चल उठ सो जा, क्यों अपनी दुश्मन आप बन रही है। ऐसी कौन सी बात थी कि तू मेरे लिए इतनी परेशान हुई ! लोहे की तरह जिस्म तप रहा है और चार बजे तक बैठी हुई है।"

"लेकिन आप ······ "

"मेरी चिन्ता न कर। तू क्या मुझे इतना गया गुज़रा समझती है। अब तो वैसे भी मुझे कुछ आराम है। तुझे ख़ुद सख़्त आराम की जरूरत थी और तू मेरे लिए ·····

"मैंने आपके लिए क्या किया······" इतना कह कर वह उठ खड़ी हुई।

सतीश ने देवकी को देखा और मन ही मन उससे कहा, "तू सचमुच पृथ्वी-समान है जो दूसरों के दुःख झेल लेता है, लेकिन अपना दुःख किसी से नहीं कहती।"

देवकी ने भी सतीश की आंखों की भाषा समझ ली और उसे ऐसा लगा मानो आज उसे पहली बार पति की सच्ची सहानुभूति मिली हो और उसका बुख़ार एक दम कहीं काफ़ूर हो गया हो।

प्रेमिका और पत्नी

जब मैं प्रेमिका थी तो पत्नी नहीं थी, और अब जबसे पत्नी बनी हूं तो मुझ में शायद प्रेमिका का वह आकर्षण नहीं रहा जिसे देख कर मेरा भूतपूर्व प्रेमी, अर्थात वर्तमान पती लट्टू हुग्रा था। बचपन की भांति वह भी कितना अच्छा समय था, जब जवानी की अल्हड़ मस्ती थी ग्रौर बस भविष्य के सपने ही सपने थे। 'सपने' जब तक सपने रहें तो अच्छे लगते हैं—नहीं तो सच होते ही वे कटु सत्य की भांति अखरने लगते हैं।

आज भी वही प्रेमिका बनने को जी चाहता है—जिसे मिलने के लिए 'यह' कभी इतने व्याकुल हुआ करते थे और मुझे रोज़ किसी न किसी बहाने मिलने का अनुरोध किया करते थे। तब 'इनके' लिए मुझ से बढ़ कर और कोई 'हुसीन' न थी, कोई 'स्वीट' न थी। यह उस समय की बात है जब हम एक-दूसरे के सपने देखा करते थे—एक दूसरे के लिए शुभ कामनाएं किया करते थे और अपनी छोटी-से-छोटी बात एक दूसरे से कहे बिना रह नहीं सकते थे। हम अपने अन्दर का सब कुछ उगलकर एक दूसरे से अपना अन्दर भर लेना चाहते थे।

लेकिन अब वे मुझ से 'बोर' हो गये हैं—मैं भी उनके रूखे व्यवहार से बोर हो गई हूँ। कभी-कभी हम एक ही कमरे में दो अजनबियों को भांति सोते हैं—जैसे एक दूसरे को जानते तक न हों—या जानना चाहते न हों।

वे सुबह देर से उठते हैं, क्योंकि रात देर से सोए होते हैं। मुझे सुबह उठना पड़ता है—क्योंकि मुझे उनसे पहले जाना होता है। जब वे उठते हैं तो मैं दोपहर के लिए खाना और प्रातः का नाश्ता तैयार कर चुकी होती हूँ तथा जाने की तैयारी कर रही होती हूँ। वे अगर ज़रा पहले उठ जाएं तो नाश्ता मेरे साथ ही करते हैं—नहीं तो बाद में अकेले ही करते हैं। मुझे स्कूल जाने की जल्दी होती है इस लिए उस समय उनसे कोई दिल की बात करने का समय नहीं होता। शाम को वे देर से आते हैं और आते ही अख़बार के पीछे पड़ जाते हैं। अख़बार हाथ में आया नहीं कि बस उधर चाहे घी के घड़े उलट जाएं। अख़बार को छोड़ेंगे तो कोई पुस्तक लेकर बैठ जाएंगे या फ़िर घर के लिए ज़रूरी सामान ख़रीदने निकल पड़ेंगे। खाना खाया और फिर पुस्तक पकड़ ली। उनके पुस्तक छोड़ने से पहले मैं सो चुकी होती हूं। जब मैं सो जाती हूं तब वे लिखना शुरू करते हैं--मेरे जागते समय नहीं लिखते - क्योंकि उन्हें भय रहता है कि मैं बीच में बोल पड़ूंगी। और उनका ध्यान चूक जायेगा। उन्हें पढ़ते या लिखते समय किसी ने बुलाया नहीं कि किसी ने तो क्या मैंने ही बुलाया नहीं कि वह बिजली की तरह बरसे नहीं। यहां तक कि अख़बार पढ़ते भी उनके काम में खलल डालना घोर अप्राध है। वे पढ़ते रहते हैं और मैं पास चुप-चाप बैठी रहती हूँ। यों चुप बैठे-बैठे जब मन ऊब जाता है तो मैं कोई बात कर बैठती हूं—क्योंकि

पति को घर में बिठा कर भला मैं कहां घूमने जा सकती हूं ? लेकिन उनसे बात की नहीं कि जली-कटी सुनी नहीं। कई बार तो मैं जान-बूझ कर उन्हें छेड़ बैठती हूँ कि देखूं उन्हें कितना ग़ुस्सा आता है—क्योंकि मैं भी उनके ग़ुस्से की आदि हो चुकी हूँ। मैं उनसे पूछती हूँ, "सुबह आप सोये रहते हैं, दिन को दफ़्तर रहते हैं—शाम को आकर अख़बार या पुस्तक पकड़ लेते हैं—तो बताइए मेरे लिए कौन सा समय है कि आप से बातें करूं ? मुझे भी तो कुछ समय मिलना चाहिए।"

वे कहते हैं, "तुम्हारे पास ही तो बैठा हूँ।'

वे पास होकर भी मुझ से बहुत दूर रहते हैं काश कि मुझे भी पढ़ने-लिखने का शौक होता तो मैं भी पुस्तकों से अपना मन बहला लेती और फिर पढ़ने का अवकाश भी कहां मिलता है। सुबह-शाम घर का काम-काज नहीं समाप्त होता। दिन को स्कूल में खड़े-खड़े टांगें अकड़ जाती हैं। बिस्तर में पड़ो नहीं कि नींद आई नहीं। हां, सोकर मुझे बहुत आनन्द प्राप्त होता है। लेकिन जैसे मुझे उनके पढ़ने से चिढ़ है वैसे ही उन्हें मेरे सोने से चिढ़ है। वे चाहते हैं जब तक उनकी लिखाई-पढ़ाई का काम समप्त नहीं होता, मैं जागती रहूँ। भला रात के दो-तीन बजे तक कौन जागे ? वे तो न भी सोएं तो उन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ता—लेकिन मैं अनिद्रा नहीं काट सकती कई बार जब वे रात को अपने काम से निवृत्त होकर मुझे छेड़ते हैं तो मुझे बहुत ग़ुस्सा आता है। उनकी पढ़ाई में दख़ल देने से उन्हें जितना ग़ुस्सा आता है—उतना ही ग़ुस्सा मुझे मेरी निद्रा से जगाने पर आता है। फिर कई बार हमारी ख़ूब लड़ाई हो जाती है। उस समय मैं उनकी मांग नहीं पूरी कर सकती और उनका पारा विस्फोट की सीमा तक जा पहुंचता है। ग़ुस्से में आकर वे मुझ पर दो-चार लातें

भी जमा देते हैं—मैं रोने लगती हूँ तो उन्हें और गुस्सा आता है।

जब मैं प्रेमिका थी तो मेरे एक आंसू पर वे कई आंसू बहा दिआ करते थे लेकिन अब मेरे अनेक आंसूओं पर भी उनका एक आंसू नहीं टपकता। जिस रात या दिन को हमारी लड़ाई होती है, उसके कई दिन बाद तक वे मुझ से बात तक नहीं करते। मैं उन्हें मनाने के लाख यत्न करती हूँ—उस ढंग से नहीं जैसे वे मानना चाहते हैं—बल्कि अपने ही ढंग से मनाती हूँ और वे और भी मेरी अवहेलना करते हैं। मैं उनकी उपेक्षा के डंक सहती हूँ क्योंकि मैं उनकी 'पत्नी' हूँ—उन्हें सब कुछ कहने-करने का अधिकार है और मेरा सब कुछ सहने का कर्तव्य है।

कई बार जब मेरे धैर्य का बान्ध टूट जाता है तो मैं उनके हाथ से अखबार या पुस्तक छीनकर उनके पास बैठ जाती हूँ। वे कहते हैं, "तुम न कुछ पढ़ने देती हो न लिखने देती हो—तुमने मुझे बिलकुल निकम्मा बना दिया है।"

लेकिन मैं हैरान हूँ कि उस समय ये मुझे मिलने के लिए कैसे समय निकाल लेते थे—जब मैं इनकी अभी पत्नी नहीं बनी थी। तब भी तो पढ़ते-लिखते थे। अब इन्हों ने कौन सी महाभारत या रामायण लिखनी शुरू की है। तब तो मुझे मिलने के लिए दो-दो घंटे प्रतीक्षा कर लेते थे। और मैं चाहती तो सारा दिन मेरे साथ रहने के लिए समय निकाल सकते थे। समय तो अब भी निकाल सकते हैं—लेकिन मेरे लिए नहीं, अपनी मित्रों के लिए। अभी रंजना आ जाए तो पुस्तक अपने-आप रैक में चली जाएगी। अखबार हाथ से छूट जाएगा। अगर वह तीन घंटे तक बैठी रहे तो उसके साथ गप्पें हांकते

रहेंगे। अभी मनजीत आ जाए तो फौरन बाज़ार दौड़े जाएंगे ग्रौर गुलाब जामुन, समोसे ग्रादि ले ग्राएंगे। लेकिन मैं अगर अपने लिए कभी मूंगरा लाने को कहूँ तो कहेंगे, "स्वयं ले आओ।" अभी सूज़ी आ जाए तो इसे घर तक छोड़ने भी चले जाएगे ग्रौर फिर वहीं चाहे रात के 10-11 बजा कर आएं। इनको किसी भी मित्र के आने पर मेरी क्या मजाल कि मैं उसके लिए जल्दी से चाय या खाना न तैयार करूं। उनसे बातें करके ये बहुत ख़ुश होते हैं।

वे इनकी मित्र जो ठहरीं, जो कभी-कभी आती हैं—और मैं ठहरी पत्नी। घर की मुर्गी दाल बराबर ही तो होती है। शादी से पहले वे मेरे साथ भी यों ही बातें करके ख़ुश होते थे—मुझे अच्छी-से ग्रच्छी चीज़ भेंट करते थे। और घर तक छोड़ कर ग्राते थे। ग्रब तो कभी दवा लाने को कहूँ तो कहते हैं, "कल स्कूल से आते समय ले आना।"

कितना सामीप्य है 'प्रेमिका' और 'मित्र' में—लेकिन कितना ग्रन्तर है 'प्रेमिका' ग्रौर 'पत्नी' में। बहुत कम ऐसी पत्नियां होती हैं जो अधिक देर तक प्रेमिका भी बनी रहती हैं। प्रेमिका उड़ते पंछी की भांति होने के नाते प्रेमी को प्रिय लगती है—लेकिन पत्नी तो पिंजरे में बन्द पक्षी की भांति है जो घर की चारदीवारी से बाहर पांव नहीं रख सकती पत्नी को परंपराग्रों, रिवाजों ग्रौर कर्तव्यों के पिंजरे में क़ैद कर दिया जाता है जहां वह तोते की भांति उसी पाठ को रटे जैसे उसका पती कहे।

जब पती-पत्नी की रुचियां परस्पर टकरा जाती हैं तो पत्नी पती द्वारा बताए गये पाठ को रटना छोड़ देती है—वह चार दीवारी

से बाहर की ओर झांकने लगती है, और कोई पती भी किसी रंजना या किसी सूज़ी के पीछे भागता है। व्यक्ति को केवल शरीर को भूख ही नहीं होती, मन की भी भूख होती है। उसकी बौद्धिक भूख के कई पहलू होते हैं और इन विभिन्न पहलुओं की भूख मिटाने के लिए उसे विभिन्न स्रोत ढूंढ़ने पड़ते हैं। बौद्धिक अथवा भावात्मिक प्यास कभी एक घाट से नहीं बुझती।

जब मैं प्रेमिका थी तो मेरा पत्नी बनने का स्वप्न था। जब से यह स्वप्न पूरा हुआ है तब से फिर प्रेमिका बनने का स्वप्न लेने लगी हूँ ताकि वे मुझे फिर पहले की भांति प्यार कर सकें। कोई मेरा अतीत लौटा दे ताकि जीवन में सरसता आए और मैं फिर से नये सपने लेने लगूं, मैं फिर से किसी के दिल व दिमाग में छा जाना चाहती हूँ जो मेरी बाट जोहता हो।

सपना

शाम को जब मैं अपने मित्र गुप्ता के हां पहुंचा तो महफिल जम चुकी थी। यों तो मुझे महफिलों-मुशाएरों में जाने का बिल्कुल शौक नहीं, लेकिन गुप्ता के बार-बार अनुरोध पर मैं उसके घर चला गया। यही सोचकर चला गया कि वहां कई महिमान आए होंगे, ता उनको चाय पानी पूछने में ही गुप्ता की सहायता कर दूंगा। गुप्ता को ऐसी महिफलें जमाने या साहित्यिक गोष्ठियां करवाने का बहुत शौक है। मुझे भी वह कई बार कह चुका है, "भई सभा-गोष्ठियों में आपसी मेल-मिलाप बढ़ता है, कलाकारों से मेल-जोल बना रहता है और साहित्य को नई गति-विधियों से व्यक्ति परिचित रहता है।"

मैं ने जा कर देखा कि खूब गर्मा-गर्म बहस चल रही है। लेकिन मेरे जाते ही बहस का सिलसिला टूट गया और लोगों का ध्यान मेरो ओर चला गया। गुप्ता ने मेरा सबसे परिचय करवाया थोड़ी रस्मी बातचीत हुई और फिर वे सभी लोग वहीं पर आ गये, जहां मेरे आने पर रुके थे। उनमें से एक महाशय जिनका नाम गुप्ता ने सुरेन्द्र बताया था, बोले, "हां तो मिस्टर गुप्ता मैं यह कह रहा था

कि नारी के जितने विभिन्न पक्षों को हरीन्द्र ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है उतना और किसो एक लेखक ने नहीं किया।"

हरीन्द्र ! यह नाम तो मेरा जाना पहिचाना लगता था, "कहां सूना था मैंने यह नाम ?" मैं मन ही मन एक नई समस्या में उलझ गया। या तो मैं हरीन्द्र को कहीं मिला हूं, या इसका नाम कहीं सुना है, लेकिन याद कुछ नहीं आ रहा था।

"हां सचमुच ही हरीन्द्र ने नारी का बहुत उच्चादर्श स्थापित किया है।" पास से एक और महाशय बोले, जो सूर्य ढल जाने पर काला चश्मा लगाए हुए थे। सभी लोगों से अपनी बात का समर्थन चाहने की प्रश्नमई दृष्टि दौड़ाते हुए वे फिर बोले, "'भाव-जगत् की भव्य-प्रतिमा' में देखिए हरीन्द्र ने नारी के सौन्दर्य का चित्रण ऐसे कौशल से किया है कि कहीं भी स्थूलता और अश्लीलता नहीं आ पाई।"

भाव-जगत् की भव्य-प्रतिमा !' हां याद आया ! यही वह उपन्यास था जिस पर हरीन्द्र का नाम लिखा था लेकिन मुझे याद नहीं आ रहा था। यहीं से मैंने यह नाम पढ़ा था। यह उपन्यास गुप्ता एक दिन मेरे घर भूल आया था। एक दिन यों ही बैठे बैठे मैंने इस उपन्यास के कुछ पृष्ठ पढ़े भी थे लेकिन मुझे कुछ अधिक रुचिकर न लगा और मैंने छोड़ दिया था।

"लेकिन जिस नग्न कामुकता का चित्रण उसने 'लंबी रात' में किया है, वह शायद आपने नहीं पढ़ा।" एक तीसरे महाशय बोले।

"भाई साहब आलोचक बनने के लिए आलोचक वाली दृष्टि

भी होनी चाहिए। 'लंबी रात' में जिसे आप कामुकता का चित्र कहते हैं, वह वास्तव में एक बेबस नारी की मजबूरियों का चित्रण है जो उन भेड़ियों के चुंगल में घिर जाती है जो समाज के रक्षक कहलवाते हैं। यह समाज के ठेकेदारों की काली करतूतों का चित्रण है।" यह आवाज़ गुप्ता की थी।

"यथार्थ के नाम पर अपनी ही दमित वासनाओं का चित्रण करना भी एक प्रथा सी बन गई है।" पहला व्यक्ति बोला। "मैं इसे कोई सफलता नहीं मानता। जीवन के और भी तो बहुत से पहलू हैं।"

सुरेन्द्र बोला, "मैं तो समझता हूँ हरीन्द्र ने नारी-जीवन का कोई भी पहलू नहीं छोड़ा। 'करतारो' नाम से हरीन्द्र ने गांव की जिस गंवार और अल्हड़ नारी को चित्रित किया है, उसमें बला का हौसला और शौर्य भी है। और फिर सुषमा का ममता-मई रूप क्या कम प्रभावित करता है?"

मैं तो यह सोच कर इस साहित्यिक गोष्ठी में गया था कि वहां कोई शेअरो-शायरी होगी, कविता सुनेंगे और वहां यह नारी-चर्चा शुरू हो गई फिर वह भी एक ही व्यक्ति की कल्पना पर। मुझे खीझ आ रही थी कि क्या एक हरीन्द्र ही उपन्यासकार है और बाकी क्या झक मारते हैं, या उपन्यासों में क्या नारी के दुःख-सुख का ही विषय होता है, और कोई नहीं। बड़ी मुश्किल से कोई दो घण्टे बाद इस मगज-पच्ची से छुटकारा मिला और मैंने शुक्र किया।

घर आकर, खाना आदि खा कर जब मैं सोने लगा तो एक

नारी आंचल फहराए खड़ी थी। एक स्थान पर कई रंग के फूल खिले थे, बीच में एक स्त्री हाथों में फूलों का गुच्छा लिए खड़ी थी, पास ही एक सूखा पेड़ था। एक पुरुष का पोर्टरेट था लेकिन बैक ग्राऊंड में नारी की अस्पष्ट सी आकृतियां बनी थी। कुछ ऐसे चित्र थे जो एक दूसरे पर आरोपित होने के कारण किसी स्पष्ट आकृति का पता नहीं लगता था। एक चित्र में एक पथिक भटकता दिखाया गया था—और सामने दूर एक ऊंचे शिखर से रोशनी की मधम किरणें पथिक के मार्ग पर पड़ती दिखाई गई थीं। कुछ चित्र ऐसे थे जो मेरी समझ से बाहर थे। इन चित्रों में कहीं जीवन झलकता था तो कहीं उदासी छाई हुई थी। एक ओर एक युवति फूलों के बीच खड़ी मुस्करा रही थी तो दूसरी ओर एक युवति आंखों में अश्रु लिए खड़ी थी। अश्रु चाहे आंख के कोने पर आकर अटके हुए थे लेकिन स्थिर थे। तो भी वे गतिशील लगते थे और ऐसा लगता था कि अभी बूंद आंख से टपक कर कपोलों पर आई कि आई।

सभी चित्र देख कर मुझे चित्रकार से मिलने की इच्छा हुई। मैंने एक युवति से पूछा, जो इस प्रदर्शनी की संयोजिका प्रतीत होती थी, कि मैं हरीन्द्र से मिलना चाहता हूं।

"लेकिन वे तो यहां नहीं हैं।" उसने मुझे चकित मुद्रा से देखते हुए कहा।

"तो फिर कहां हैं ?" मैंने फिर पूछा।

"मुझे नहीं मालूम।" उसकी प्रश्न वाचक दृष्टि पूछ रही थी कि मुझे हरीन्द्र से क्या काम है, लेकिन उसने पूछा नहीं।

"वे यहां नहीं तो उनके चित्रों की प्रदर्शनी कैसे लग गई ?"

"यह तो अकादमी के सौजन्य से अर्चना ने आयोजित की है।"

"अर्चना ! कौन अर्चना ?"

"वही अर्चना जिसने इस प्रदर्शनी का आयोजन किया है।"

"क्या मैं उनसे मिल सकता हूं ?"

"जी नहीं, वे किसी से नहीं मिलतीं।"

"तो मुझे इस चित्रकार का ही पता बता दीजिए।"

"इस चित्रकार ने अब चित्रकारी छोड़ दी है, क्या करेंगे मिलकर ?'

"क्या ! उपन्यास लिखने छोड़कर, चित्रकारी शुरू की, अब चित्रकारी छोड़ कर कौन सा शौक फरमाते हैं"

"अब वे मूर्तियां बनाते हैं।"

"मूर्तियाँ !" मेरा आश्चर्य से मुंह खुला ही रह गया।

"हां हरीन्द्र एक मूर्तिकार बन गया है।"

हरीन्द्र के प्रति मेरी उत्सुकता बढ़ती ही जा रही थी। यह अर्चना कौन थी ? संयोजिका ने अर्चना के बारे कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया, लेकिन हरीन्द्र का पता मैंने उससे पूछ ही लिया।

प्रातः ही मैं उस युवति के बताए पते अनुसार निश्चित स्थान पर पहुँच गया। मकान बाहर से साधारण ही दीखता था लेकिन पिछली ओर एक छोटा सा बाग़ीचा था। यही थी हरीन्द्र की वर्कशाप। नौकर मुझे उस बाग़ीचे में छोड़ आया। हरीन्द्र वहां नहीं था। नौकर ने बताया कि थोड़ी देर तक आ जायेगा। मैं वहां बाग़ीचे में

पड़ी कुछ अधूरी और कुछ तैयार मूर्तियों को देखने में खो गया। मूर्तियां क्या थीं, ऐसा लगता था कि जीवित अप्सराएं खड़ी हैं। जिस मूर्ति को देखो तो आंखें वहां से हटती ही नहीं थीं। वही चित्रों वाली अभिव्यक्ति इन मूर्तियों में भी थी--कोई प्रसन्नता-भाव में खड़ी थी तो किसी के चेहरे से भीतर के क्रन्दन तथा पीड़ा का स्पष्ट आभास होता था।

मूर्तियों के अंगों के उभार की अपेक्षा, मूर्तिकार ने उनकी भाव-भंगिमा को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया था। कोई लाज के मारे झुकी जा रही थी तो कोई चितवन के पुष्प-बाण छोड़ रही थी।

"तो यही हैं भाव-जगत् की भव्य-प्रतिमाए" मैंने मन में सोचा। तभी पीछे से मेरे कानों में आवाज़ पड़ी "कहिए कैसी लगीं आपको ये मूर्तियां ?" मैंने पीछे मुड़ कर देखा, कोई चालीस वर्ष की आयु का एक व्यक्ति खड़ा मेरी ओर मुस्करा कर देख रहा था। वह साधारण कुर्ता पाजामा पहने खड़ा था। पांव में चप्पल, चेहरा गोल भरा हुआ, सर के बाल आधे के करीब सफेद, आंखों में नम्रता-भाव—यह था उपन्यासकार, चित्रकार और मूर्तिकार हरीन्द्र।

मैं ने भी सरल-भाव से मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "क्या बताऊं कैसी लगीं। इन मूर्तियों का सौन्दर्य आपके चित्रों में चित्रित और आपके उपन्यासों में वर्णित है—मुझे तो कोई शब्द नहीं सूझता कि इनकी प्रशंसा कैसे करूं।"

"तो आप ने मेरे उपन्यास पढ़े हैं। और चित्र भी देखे हैं !"

"कौन ऐसा साहित्य प्रेमी व्यक्ति होगा जिसने आपके उपन्यास न पढ़े हों। आपकी भाषा और सौंदर्य-चित्रण पढ़ कर लोग मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं।"

"आप ठीक कहते हैं और ठीक नहीं भी। ठीक यह कहते हैं कि अलौकिक छवि को मैं किसी रूप में भी नहीं बांध सका, उसे कुछ शब्दों में बान्धना कठिन कार्य है। नहीं ठीक बात यह है कि मेरा सौन्दर्य-चित्रण आपको चाहे सन्तुष्ट करता हो, लेकिन मुझे अपनी एक भी कृति से सन्तोष नहीं हुआ।"

"लेकिन लोग तो आपकी कला की प्रशंसा करते नहीं थकते।"

"इस लिए कि लोगों के सामने एक अनदेखी वस्तु आ जाती है। लेकिन मैं तो देखी वस्तु को सामने लाने का प्रयास करता हूं और इस प्रयास में अभी तक सफलता नहीं मिली।"

"एक बात मैं आप से पूछना चाहूँगा कि जब आप एक सफल उपन्यासकार बन गये तो आपने लिखना छोड़ दिया और चित्रकारी शुरू कर दी। चित्रकारी में सफलता प्राप्त की तो उसे छोड़ कर मूर्तिकला शुरू कर दी। ऐसा क्यों?"

"आप इसे सफलता का नाम दे सकते हैं, लेकिन मैं स्वयं को अपने ध्येय में सफल हुआ नहीं मानता। मैंने जिस व्यक्तित्व को जिस सौन्दर्य को और जिस भाव-जगत् को एक व्यक्ति में उड़ेलना चाहा— एक पात्र में चित्रित करना चाहा, वह नहीं कर सका। उपन्यासों में मैंने नारी के जो रूप चित्रित किए हैं, वे एक ही जीवन के अलग-अलग पहलू हैं।

"मैं चाहता था, जीवन के ये सभी पहलू एक ही व्यक्तित्व में समेट सकूं। पर ऐसा नहीं कर सका। मैं इस सूक्ष्म चित्रण को अपने सामने—अपनी आंखों से देखना चाहता था, इस लिए मैंने शब्दों को छोड़ रंगों का सहारा लिया। शब्दों के अर्थ सूक्ष्म हैं लेकिन रंग तो स्थूल वस्तु है। लेकिन इस चित्रकारी से भी सन्तुष्टि नहीं हुई। मैं अपने मन में अंकित छवि को और स्थूल रूप में देखना चाहता था, इस लिए मूर्तियों का निर्माण करना शुरू किया। लेकिन किसी भी मूर्ति में मेरे मन पर अंकित छवि नहीं उतर पाई। फिर एक मूर्ति एक ही भाव को, या कुछ भावों को व्यक्त करती प्रतीत होती है, सभी भावों को नहीं।"

"अब यह मूर्ति है," हरीन्द्र ने पास खड़ी एक बड़ी मूर्ति की ओर संकेत करके कहा, "इस की आंखें लाज से झुकी हैं—मैं चाहता हूँ यही मूर्ति सर ऊंचा कर शरारत भरी चितवन से निहारने लगे—इसी की आंखों में गहराई आ जाए। वह मूर्ति है," उसने दूसरी मूर्ति की ओर संकेत किया, "उसके चेहरे पर दुःख और पीड़ा के भाव हैं, मैं चाहता हूँ वही मूर्ति रोते-रोते हंस पड़े और खुशी से नाचने की मुद्रा धारण कर ले।"

"लेकिन आपकी सब मूर्तियों को मिलाकर तो एक रूप बनता है। प्रत्येक मूर्ति या चित्र अलग-अलग भाव-भंगिमा को प्रकट करता है।"

"लेकिन मैं ये सभी भाव, सभी रूप एक ही कृति में देखना चाहता हूं जो कि मैं देख नहीं सका। मैं अपने सूक्ष्म भावों को स्थूल रूप में देखना चाहता हूँ। मुझे अपनी अभिव्यक्ति के लिए माध्यम

नहीं मिलता न जाने मेरा यह सपना कब सच होगा।"

हरीन्द्र के चेहरे पर उदासी छा गई, आंखें कुछ नम हो गईं।

"कब देखा था यह सपना आपने ?" मेरे मुंह से अचानक यह प्रश्न निकल गया। मुझे अपने इस प्रश्न पर झेंप भी हुई लेकिन अब तो तीर छूट चुक था।

"बहुत पुराना है यह सपना—बहुत पुराना - शायद जब होश संभाला था लेकिन जहां तक मुझे याद है, कोई बीस वर्ष पुराना है।"

मैं चाहता था कि हरीन्द्र स्वयं ही पूरी बात बता दे और मैं बीच में बोल कर उसका ध्यान-भग न करूं। इस लिए उसके कितनी देर चुप रहने पर भी मैं कुछ न बोला। फिर उसने कुछ याद करते हुए कहा, "यह सपना उसी समय सच हो सकता था। लेकिन मैं उस महान छवि से डर गया था कि मैं इसे संभाल न सकूंगा - क्योंकि मैं समझता था कि मैं उस छवि के काबिल नहीं था। उस छवि के आत्म-समर्पण पर भी मैंने उसे स्वीकार नहीं किया था। लेकिन उस सौन्दर्य को, उस सरसता और सरलता को मैंने अपने मन में ढाल लिया था। मुझे यह भी डर था कि यदि उस छवि को मैं प्राप्त कर लेता तो मेरे लिए उसका उतना महत्व और आकर्षण नहीं रहेगा। मैं डरता था कि मैं उसके पास आकर उस से दूर हो जाऊंगा।

"लेकिन उस से दूर होकर मैं उसके अधिक समीप रह सकूंगा। इसी लिए मैंने उसे अपनी कल्पना में छिपा लिया—मन की परतों में ढक लिया—और स्थूल रूप को सूक्ष्म सपना बना लिया। मैंने इस

[सपना

छवि को अमर बनाने का निश्चय किया था। मैंने मन-ही-मन सोच लिया कि इस रूप का ऐसा चित्रण करूंगा कि आने वाले युग में इसकी अमिट छाप अंकित रहेगी। उस छवि में, उसकी भावनाओं में जो कुछ मैंने देखा - उसी का सफल चित्रण मेरा सपना रहा है - लेकिन ऐसा लगता कि यह सपना कभी सच्चा नहीं होगा कभी नहीं ·· इस जन्म में तो क्या कई जन्मों तक यह साधना पूरी नहीं होगी। मैंने अभिव्यक्ति के सभी साधनों का प्रयोग करके देख लिया लेकिन सफलता नहीं मिली।

"मेरे उपन्यासों में, चित्रों में और इन मूर्तियों में चित्रित, और ही रूप आ गये - वह रूप नहीं आ पाया जो मैं ने देखा था—मैंने उस असल रूप को अपनी कृतियों द्वारा विकृत कर दिया है इस लिए मैंने अपने सभी चित्र उठवा दिए और अब सोचता हूं कि इन मूर्तियों को भी उठवा दूं—ये मेरी सफलता की नहीं असफलता की तस्वीरें हैं—मेरे सपने का विकृत रूप हैं - मुझे इनसे लज्जा आती है। इनसे आंख मिलाने को मेरा साहस नहीं होता—क्योंकि मेरे अन्दर की छवि पुकार उठती है "यह मैं नहीं हूँ।"

हरीन्द्र के मन की वेदना धीरे धीरे उसके चेहरे पर उभरती जा रही थी। उसका क्षोभ स्पष्ट दीखने लगा और उसके निश्वासों से अन्दर की जलन का सेंक आता प्रतीत होता था। यह कैसी साधना थी, कैसा परिश्रम था, और कैसी आत्म-पीड़ा थी—किसी को अमर बनाने का सपना - लेकिन स्वयं घुल घुल कर जीने की साध्य।

"आपके घर और कौन कौन रहता है ?' मैंने बात बदलने के लिए पूछा। ऐसा पूछने का दूसरा प्रयोजन यह भी था कि मैं हरीन्द्र

के निजी जीवन के बारे कुछ और जानना चाहता था।

“घर में मैं, मेरा नौकर और ये मूर्तियां।”

“आपकी शादी···”

“आप यदि रस्मी शादी की बात करते हैं, तो मैं उसे नहीं मानता और न ही मेरी ऐसी शादी हुई है। इस शादी में दो शरीरों को जकड़ दिया जाता—लेकिन मन अपनी जगह स्वतन्त्र रहते हैं। शादी तो वह है जहां मन बन्ध जाएं। ऐसी शादी मुझे किए बीस वर्ष से अधिक समय हो गया है।”

“कौन थी वह ?”

“अर्चना।”

सिस्टर

"सिस्टर तुम यही दवा बार-बार पिला जाती हो, लेकिन इस से फ़र्क तो कोई पड़ता नहीं।"

"फ़र्क तो पड़ रहा है लेकिन तुम्हें नहीं महसूस होता। आखिर यह दवा है कोई जादू तो है नहीं जो एक दम मन्त्र फूंक दे। दवा धीरे-धीरे अपना असर करती है।"

"सिस्टर मैं तो तंग आ गया इस दवा से।"

"दवा पियोगे तभी अच्छे होगे न।"

इतना कहके सिस्टर अगले बैडॅ की तरफ़ चल दी। इकबाल उसकी ओर टिकटिकी लगाए देखता रहा। वह एक के बाद दूसरे बैडॅ के पास जाती, मरीज़ का हाल पूछती और डाक्टर को पर्सक्रिपशन के अनुसार मरीज़ को दवा, गोली देती या इन्जैक्शन लगाती। इकबाल बराबर गिनता जा रहा था कि अब कितने बैडॅ रह गये हैं और कितने बैडॅ उसने देख लिए हैं। जब सारे बैडॅ चैकॅ करने के

बाद सिस्टर उसके बैडॅ के पास से गुज़री तो उसके मुंह से अचानक निकला, "सिस्टर।"

लेकिन यह आवाज़ सिस्टर ने नहीं सुनी। यह आवाज़ इकबाल के इलावा और किसी ने भी नहीं सुनी। शायद यह आवाज़ उसके होठों से बाहर निकल ही नहीं सकी। उसने सोने का असफल-सा प्रयास किया, लेकिन कष्ट में नींद कहां! नींद भी कष्ट से डरती है और रोगी लोगों के पास प्रायः कम ही आती है। इकबाल चाहता था कि उसे ऐसी गहरी नींद आ जाए कि शरीर की पीड़ा का पता तक न चले। उफ़ ये दिन-रात भी कितने लम्बे हो गये थे। दिन चढ़ता है तो ढलने का नाम तक नहीं लेता था, और रात आती तो जाने तक का नाम भी नहीं लेती थी। इकबाल की आंखें उस तरफ लगी हुई थीं जिधर सिस्टर गई थी।

पास का एक मरीज़ ज़ोर-ज़ोर से कराह रहा था, फिर एक दम चिल्लाने लगा, "सिस्टर! सिस्टर!!"

सिस्टर भागी-भागी आई और उस मरीज़ के पास बैठ कर उसे तसल्ली देने लगी। इकबाल उसकी ओर टिकटिकी लगाए देखता रहा। अब उसे भी सिस्टर को बुलाने का तरीका सूझ गया था। जब वह मरीज के पास से उठकर अपने कमरे को जाने लगी और इकबाल की चारपाई के पास से गुज़री तो उसने फिर आवाज़ लगाई। इस बार उसकी आवाज सिस्टर तक पहुँच गई और उसने पलट कर देखा। फिर उसके पास आकर बोली, "क्या बात है?"

बात! बात क्या बताए! उसे कुछ सूझ नहीं रहा था कि सिस्टर को बुलाने का क्या बहाना बताए। फिर बोला, "सिस्टर

[सिस्टर

अगली ख़ौराक का समय नहीं हुआ ?"

सिस्टर ने घड़ी देखी और बोली, "नहीं ।" जब वह जाने लगी तो इकबाल ने फिर झिझकते हुए कहा, "सिस्टर……

"अब क्या बात है ?"

"तुम थक गई होगी ?"

"नहीं तो ।"

"तुम्हें वार्ड के कितने ही चक्कर लगाने पड़ते हैं ।"

"यह तो मेरी ड्यूटी है ।"

"खूब थक जाती होगी ।"

"रोज़ की आदत बन चुकी है ।"

"कुछ मरीज़ तुम्हें खूब परेशान करते होंगे ।"

"हां, जो दवा नहीं पीते ।"

"लेकिन मैंने तो दवा पीने से कभी इन्कार नहीं किया ।"

"मैं तुम्हारी बात नहीं करती ।"

"तुम्हें मरीज़ कैसे लगते हैं ?"

"अच्छे लगते हैं ।"

"मैं भी ?"

"ज़्यादा बातें न करो, अब सो जाओ ।"

"जा रही हो ?"

"हां ।"

"सोने ?"

"मैं यहां सोने नहीं आई, ड्यूटी पर आई हूँ।"

"मैंने सुना था सिस्टर्ज़ रोगियों से बहुत सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करती हैं, उनकी ज़रा-ज़रा सी बात का ध्यान रखती हैं।"

"तो तुम महसूस करते हो कि तुमने ग़लत सुना था ?"

"तुम जा जो रही हो ।"

"बहुत चालाक मालूम होते हो।"

"क्या करूं समय नहीं कटता।"

इतने में एक आदमी हांपता हुआ आया, "सिस्टर! जल्दी चलो, मरीज़ की हालत बहुत ख़राब है।"

"मैं अभी साईड-रूम में मरीज़ को देख कर आई," इतना कह के वह चली गई।

आध घंटा से अधिक बीत गया वह लौट कर नहीं आई। इकबाल ने सोचा अपने कमरे में जा कर सो गई होगी। थोड़ी देर बाद वह हाथ में ट्रे उठाए वहां से गुज़री। थोड़ा आगे जाकर फिर पलट कर इकबाल के पास आई, और कह गई, "मरीज़ की हालत खतरनाक है।"

वह सचमुच बहुत परेशान दीखती थी।

कोई दो घंटे बाद फिर वह आई। इकबाल ने आंखें बन्द की हुई थीं। वह उसे देख कर वापस लौटने लगी तो इकबाल ने धीरे से कहा, "सिस्टर" और वह पास बैठ गई।

[सिस्टर

"अब कैसा है मरीज़ ?"

"कुछ आराम है। मैं तो डर ही गई थी।"

"तुम मरीज़ों से बहुत प्यार करती हो।"

"मुझे उनसे हमदर्दी है।"

"तुम्हें तो सभी रोगियों का पता होगा कि अमुक रोगी को क्या कष्ट है और कब से यहां दाखल है।"

"वह तो सब के पास रिपोर्ट जो पड़ी होती है।"

"सिस्टर, तुम्हें यहां नौकरी करते कितनी देर हुई ?"

"पांचवां वर्ष जा रहा है।"

'इस अर्से में कई मरीज़ यहां दम भी तोड़ गये होंगे।"

"कैसी बातें करते हो !"

"अच्छा सिस्टर यह तो बताओ इन पांच वर्षों में तुमने जितने मरीज़ों की सेवा की, क्या वे तुम्हें सब याद हैं ?"

"शायद सामने देख कर किसी को पहचान लूं। इतने मरीज़ों को याद रखना कठिन है। कुछ-कुछ तो अभी तक याद हैं।"

"क्या तुमने किसी मरीज़ से कभी प्यार भी किया ?"

"देखो अगर ऐसी फ़ज़ूल की बातें करोगे तो मैं उठ कर चली जाऊंगी।"

"तुम अगर इसे फ़ज़ूल की बातें समझती हो तो नहीं करता।"

"मैं सभी मरीज़ों से प्यार करती हूं—यह भी मेरी ड्यूटी का एक हिस्सा है।"

"तुम्हें बहुत से मरीज़ याद होंगे।"

"हां।"

"क्या कोई ऐसा भी है जिसे तुम कभी न भूल पाई हो ?"

"................ ...."

"क्षमा करना मैंने शायद तुम्हारे किसी घाव को कुरेद दिया।"

"नहीं ऐसी बात नहीं। दरअसल उसे मुझ पर बहुत विश्वास था और वह कहा करता था, "मुझे तुम्हारे हाथों से अवश्य जीवन-दान मिलेगा—लेकिन वह अपना विश्वास टूटता हुआ भी न देख सका।"

"जीवन-मृत्यु तो परमात्मा के हाथ में है।"

"कुछ लोगों का विश्वास है कि कभी-कभी दवा से दुआ अधिक काम करती है। मैंने भी उसके लिए बहुत दुआएं कीं, लेकिन कोई काम न आई। मैं तो सभी रोगियों की तन्दुरुस्ती के लिए दुआएं करती रहती हूँ।"

"न बाबा कहीं मेरी तन्दुरुस्ती के लिए दुआ न करना। मुझे तो यह जगह बहुत पसन्द है।"

"लोग तो इस जगह से डरते हैं। तुम्हें यह जगह क्यों पसन्द है ? भगवान् करे तुम जल्दी अच्छे हो जाओ और घर जाओ।"

"अपने से दूर क्यों भेजना चाहती हो ? यहां रहूँगा तो तुम से भेंट होती रहेगी—तुम से भेंट होती रहेगी तो मन को आराम मिलता

[सिस्टर

रहेगा। अच्छा हुआ जो मैं बीमार हो गया, नहीं तो तुम से भेंट कहां होती।"

"देखो ज़्यादा बातें करना तुम्हारे लिए अच्छा नहीं। तुम्हें सख्त आराम की ज़रूरत है। जानते हो डाक्टर क्या कह गये हैं?"

"इससे अधिक आराम जीवन में अब और कहां मिलेगा।"

"तुम तो यों ही दिल छोटा कर लेते हो। कहा न कि तुम जल्दी ही अच्छे हो जाओगे। अरे! सुबह हो गई। अब मुझे वार्ड का चक्कर लगाना है क्योंकि मेरी ड्यूटी ख़त्म होने वाली है।"

"अब रात आठ बजे आओगी?"

"आज रात नहीं बल्कि कल रात आठ बजे, क्योंकि आज मेरी छुट्टी है।"

वार्ड का चक्कर लगा कर दूसरी सिस्टर को चार्ज देकर और इकबाल की ओर एक मुस्कान फेंक कर वह चली गई।

दूसरे दिन शाम को जब वह ड्यूटी पर आई तो वार्ड के चार बैडॅ ख़ाली थे जिनमें एक इकबाल का भी था। पूछने पर पता चला कि बाकी रोगियों को तो छुट्टी मिल गई है लेकिन इकबाल को उसके घर वाले किसी और बड़े हस्पताल में इलाज करवाने ले गये हैं। उसकी हालत अधिक बिगड़ गई थी और शायद उसे किसी और शहर में ले जाया गया है।

सिस्टर इकबाल की चारपाई के पास जाकर खड़ी हो गई। उसके कभी न भूलने वाले मरीज़ों में आज एक और मरीज़ की वृद्धि हो गई थी।

बड़े घर की बहू

माधवी का जब सुदर्शन के साथ विवाह निश्चित हुआ तो किसी ने सोचा भी न था कि इतना अच्छा लड़का उसके लिए मिल जाएगा। डील-डोल, व्यक्तित्व, शक्ल-सूरत तथा घर से भी—हर प्रकार से सुदर्शन माधवी के लिए श्रेष्ठ वर था। अच्छा पढ़ा-लिखा और कारोबार भी अच्छा-ख़ासा चलता था। माधवी ने स्वयं भी अपने भविष्य के न जाने कितने सपने लिये होंगे अथवा मन-ही-मन कई ताने-बाने बुने होंगे—लेकिन इतनी चीज़ें उसे एक साथ मिल जाएंगी—यह उसने कभी सोचा भी नहीं था।

हमारे देश में लड़की के ज़रा बड़े होने पर ही उसके माता-पिता की वर के लिए चिन्ता बढ़ जाती है। अपने हृदय के टुकड़े को वे किसी साधारण व्यक्ति को सौंपना भी पसन्द नहीं करते। मन चाहा वर प्राप्त करना भी मुश्किल होता है और कई बार सब कुछ ठीक होने पर भी देने-लेने के मामले में आकर बात टूट जाती है। एक बार बात क्या टूटी कि लड़की पर और मुसीबत आई। लोग उसके विषय में अनेकों अप्रिय बातें सोचने लगते हैं।

माधवी के माता-पिता को स्वयं चाहे इतनी जल्दी नहीं थी। वे कहते थे, "अभी माधवी की उमर ही क्या है, हो जायगा।" लेकिन लोग उन्हें टिकने नहीं देते थे। जो भी कोई सगा-सम्बन्धी मिलता तो पहला प्रश्न यही करता, "आप ने लड़की का रिश्ता कर दिया ?" या, "कोई लड़का देखा कि नहीं ? आप अभी तक इसकी शादी क्यों नहीं करते"...... आदि-आदि।

लोगों की इस पूछ-ताछ ने उन्हें परेशान कर रखा था, इस लिए उन्हों ने लड़के की तलाश शुरू कर दी। लेकिन भारत में यों तो पुरुषों की आबादी अधिक है लेकिन वर के लिए कोई लड़का आसानी से नहीं मिलता। लड़के के चुनाव के सम्बन्ध में माता और पिता में थोड़ा सा मत-भेद भी था। मां कहती, "लड़का अच्छा खानदानी होना चाहिए और उसकी जायदाद भी हो ताकि मेरी बेटी का भविष्य सुरक्षित रहे।"

लेकिन माधवी के पिता का विचार था कि लड़का स्वयं अच्छा होना चाहिए चाहे वह ग़रीब घराने का हो और चाहे किसी खानदान का हो। लड़का अपने पांव पर खड़ा हो अर्थात् स्वयं कमाता हो।

इसी तरह वर की तलाश में कई वर्ष व्यतीत हो गये और अब तो सचमुच ही माता-पिता की चिन्ता बढ़ गई। इस चिन्ता तथा निराशा के कारण कई बार घर में झगड़ा भी हो जाता और तनाव बढ़ जाता। माधवी इन सब बातों के लिए स्वयं को उत्तरदाई समझती, क्योंकि यह सब कुछ उसी के कारण हो रहा था। उससे अपने माता-पिता का दुःख न देखा जाता, लेकिन वह विवश थी। वह ऐसा लड़का कहां से ढूंढ़कर लाती जो माता-पिता की इच्छानुसार होता

और जो बिल्कुल सादा विवाह करने को तैयार हो जाता। कई बार उसने आत्म-हत्या की बात सोची ताकि सब मुसीबतों का अन्त हो जाए लेकिन इससे माता-पिता को और बदनामी होगी और वे अधिक दुःखी होंगे – यह सोचकर माधवी ने आत्म-हत्या की बात छोड़ दी।

अब तो माधवी ने अपने मन को मार लिया था। अपने सभी सपनों को एक ओर छोड़कर स्वयं को भाग्य पर छोड़ दिया था। उसके माता-पिता जैसा भी लड़का पसन्द कर लें—उसे मंज़ूर था। वह तो किसी प्रकार उन्हें इस चिन्ता से मुक्त करना चाहती थी। इसके लिए उसे चाहे कितना कष्ट सहना पड़े या कैसा जीवन व्यतीत करना पड़े।

लेकिन सुदर्शन के साथ माधवी का विवाह तय होने से सारी समस्याएं सुलझ गईं। माधवी के माता-पिता की खुशी का तो कोई ठिकाना ही नहीं था कि इतना अच्छा लड़का मिल गया। माधवी के सपने भी फिर से अंगड़ाइयां लेने लगे।

फिर विवाह भी हो गया। लड़के वालों ने देने-लेने के लिए न तो किसी बात की ज़िद्द की और न ही कुछ अपनी मांग रखी। बस लड़की वालों ने जो कुछ अपनी इच्छा से दिया, उन्हों ने स्वीकार कर लिया। उन्हों ने किसी भी प्रकार की असन्तुष्टि का भाव नहीं प्रकट किया। इससे लड़की वालों को और खुशी हुई नहीं तो कितना कुछ देने पर भी लड़के वाले नाक सिकोड़ते जाते हैं।

विदाई के समय मां ने माधवी से कहा, "बेटी अब इस घर की लाज तेरे हाथों में है। कभी कोई ऐसा काम न करना जिस से इस घर पर कलंक आए।"

ससुराल पहुंच कर सास ने बहू का खूब स्वागत किया। कितने ही रीति-रिवाज पूरे किए। उसने माधवी से कहा, "बेटी अब इस घर को अपना ही घर समझो। तू अब इस घर की लक्ष्मी है। इस घर की लाज अब तेरे हाथों में है।"

माधवी समझ नहीं पा रही थी कि सास उसे सम्मान प्रदान कर रही है या उस पर ज़िम्मेदारियों का बोझ लाद रही है। दोनों घरों की लाज के बोझ को अपने कन्धों पर उठा कर माधवी ने नये घर में प्रवेश किया और अपने सपनों की दुनियां को सजाना शुरू किया। कुछ दिन तो इधर-उधर की दावतें चलती रहीं अथवा घर के रस्मो-रिवाज पूरे होते रहे इस लिए उसे वहां के वास्तविक जीवन का पता नहीं लगा। लेकिन बाद में धीरे-धीरे उसे पता लगता गया कि इस घर के नियम कितने कड़े हैं और किसका कैसा स्वभाव है।

सास अपने धर्म-कर्म और पूजा-पाठ की बड़ी पक्की थी। सर्दी हो या गर्मी, प्रातः अन्धेरे में उठना, स्नान करके पूजा करनी उसका नियम था। और जब सास प्रातः जगी हो तो बहू सोई रहे, यह उस घर के नियम के विरुद्ध था। पूजा समाप्त होने से पहले घर में कोई भी व्यक्ति कुछ खा-पी नहीं सकता था। सुदर्शन वैसे तो माधवी से बहुत प्यार करता था, लेकिन वह अपने काम-काज को सब से अधिक महत्ता देता था। इस लिए खाना आदि परोसकर प्रतीक्षा करना माधवी का कर्तव्य समझा जाता था। यों तो घर में नौकरानी थी और नौकर भी था। उनका काम था घर की सफ़ाई आदि करना और आए-गये महिमान की देखभाल करनी। बाज़ार से चीज़ें लानी हों तो यह काम नौकर का था। माधवी के ससुर तो साधु पुरुष थे

वे घर के झंजटों से तटस्थ रहते। माधवी की एक ननद थी अरुणा—स्वभाव की बहुत चंचल और तेज़ भी। उसकी मनमानी में ज़रा भी अड़चन डालने वाला उसका शत्रु था चाहे घर का कोई भी व्यक्ति हो। मां की लाडली बेटी होने के कारण उसे बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

घर की बहू के लिए घर में आए महिमान के सामने आना तथा बाज़ार अकेले जाना वर्जित था। जब भी बाज़ार जाना हो तो माधवी सास के साथ या फिर सुदर्शन के साथ जा सकती थी। सास के साथ वह खुल कर बात नहीं कर सकती थी और सुदर्शन को उसके साथ जाने का अवकाश बहुत कम मिलता था। रात को जब सुदर्शन घर आता तो खाना खा के एक दम सो जाता लेकिन उसे रात को कई बार जगने की आदत थी। और जितनी बार नींद टूटे उतनी ही बार उसे कॉफ़ी का कप मिलना चाहिए था। शादी से पहले उसे कॉफ़ी पिलाने का काम नौकर के ज़िम्मे था लेकिन अब बहू के आ जाने से नौकर को इस काम से छुट्टी मिल गई। सुदर्शन स्वभाव का तेज़ तो था ही इस लिए माधवी हर समय उससे कुछ सहमी-सहमी सी रहती कि कहीं वह बिगड़ न पड़े या नाराज़ न हो जाए। रात को सोते समय उसे यही डर रहता कि कहीं ऐसा न हो कि सुदर्शन जाग पड़े और वह सोई हुई हो। कॉफ़ी का सामान वह पास ही रख कर सोती और रात को उसे कभी चार बार कभी छः बार और कई बार आठ-आठ बार कॉफ़ी बनानी पड़ती। उसे कॉफ़ी बनानी इतनी मुश्किल नहीं लगती थी जितनी सुदर्शन के साथ पीनी। सुदर्शन दंभी बहुत था - किसी की क्या मजाल कि उसकी बात न माने—और फिर वह भी माधवी। इस लिए जितनी बार रात को वह

कॉफ़ी पीता, उतनी ही बार माधवी को भी पीनी पड़ती। और कभी माधवी ने पीने से इनकार किया नहीं कि आफ़त आई नहीं। साहब दो दिन खाना नहीं खाएंगे, माधवी से बात नहीं करेंगे—केवल इसी लिए कि उनकी बात क्यों नहीं मानी गई। फिर माधवी उसको मनाती क्षमा मांगती तब कहीं जाकर सुलह होती।

अब घर में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसके साथ माधवी खुलकर बात कर सके। वह अपने मन की बात किसी से न कह पाती। ननद के साथ वह बात करते इस लिए डरती कि कहीं वह बिगड़ न बैठे या उसकी बात को उछालने न लगे—सास के साथ उसकी झिजक थी और सुदर्शन .... पति-पत्नी के बीच भी 'आत्मीयता' न बन पाई थी। माधवी के आत्म-समर्पण में भी उसे अपनत्व नहीं मिला था—इस लिए उसका आत्मसमर्पण शारीरिक-मात्र था। दोनों के बीच एक दीवार थी—यह दीवार दोनों के स्वाभिमान की थी। एक का स्वाभिमान था अपनी बात मनवानी - दूसरे का स्वाभिमान था बिना उफ़ किए माननी। एक का स्वाभिमान था अपनी भावना को ठोंसने के लिए दूसरे की भावना को मसलना—दूसरे का स्वाभिमान था अपनी भावना को कुचले जाने देना। सुदर्शन माधवी को अपनी जायदाद का ही एक हिस्सा मानता था। माधवी अपनी भावनाओं को इस लिए दबाए रखती कि जब इन्हें कोई समझने वाला नहीं—इनसे कोई सहानुभूति रखने वाला नहीं - इनको व्यवहारिक रूप देने वाला कोई नहीं तो इन्हें प्रकट करने का क्या लाभ। जब दूसरा दुःख को नहीं समझता तो दुःख प्रगट करने का क्या लाभ। इसी लिए वह एक मशीन की भांति उधर घूम जाती जिधर सुदर्शन उसे घुमाता, और यही कारण था कि दोनों के बीच अपनत्व स्थापित

न हो सका।

घर में एक व्यक्ति था जिससे कभी-कभी माधवी खुलकर बात कर लेती—जहां उसे औपचारिकता झिजक अथवा भय नहीं लगता था। वह व्यक्ति घर की नौकरानी, दुलारी थी। माधवी को जब भी अवसर मिलता, दुलारी को पास बुला लेती और घंटों उससे बातें करती रहती। एकाकी व्यक्ति को गंवार से गंवार व्यक्ति का भी साथ प्रिय लगने लगता है। लेकिन दुलारी गंवार नहीं थी—बहुत समझदार थी। माधवी उससे उसके घर के बारे, उसके बचपन के विषय में पूछती और दुलारी बड़े चाव से सब कुछ बताती। उसे इस बात की ख़ुशी थी कि माधवी को उससे रुचि है नहीं तो घर में किसी ने भी उससे सिवाय मतलब की बात के कभी कुछ न पूछा था।

एक दिन माधवी एक मेज़पोश पर कढ़ाई कर रही थी कि दुलारी भी पास चावल बीनने को लेकर बैठ गई। माधवी ने उससे पूछा, "क्यों री तेरा पति कैसा है ?"

"बहुत अच्छा है" दुलारी ने माधवी के प्रश्न को बिना समझे ही उत्तर दे दिया।

"तुझ से प्यार करता है ?'

"हमारा पति है तो हमसे प्यार काहे नहीं करेगा।"

"तुम भी उससे खूब प्यार करती होगी।"

"....यह भी कोई पूछने की बात है बीबी जी !"

"अच्छा यह बता तुझे कभी उसने पीटा तो नहीं ?"

[बड़े घर की बहू

दुलारी थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली "वह बड़े ग़ुस्सैल हैं। जब कभी पीटते हैं फिर आव-ताव नहीं देखते। लेकिन फिर भी वह बहुत अच्छे हैं।"

"कैसे जच्छे हैं?"

"ज़रा मुझे तकलीफ़ हो जाए तो बस जान छिड़क देते हैं।"

"अच्छा! दुलारो, न जाने मर्द औरत को एक खिलौना क्यों समझते हैं—मन में आया तो प्यार कर लिया और मन में आया तो उसे पीट लिया, झिड़क लिया या डांट दिया।"

"बीबी जी यह तो ऐसे ही होता आया है। पति को सब कुछ कहने करने का हक है।"

"और स्त्री का क्या हक है?"

"कहते हैं सास्त्रों में यही लिखा है कि पति परमेश्वर होता है और उसका हुक्म मानना हर औरत का फर्ज है।"

"अच्छा बड़े शास्त्र पढ़े हैं तू ने।"

"पढ़े कहां बीबी जी, सुना है। पढ़ना-लिखना तो आप बड़े लोगों का काम है। लेकिन बीबी जी, आपके वह बाबू जी तो आप से बहुत प्यार करते हैं न, और आप भी······"

"चल चोटी कहीं की······" कह कर माधवी ने दुलारी की चोटी खींच ली और दुलारी की हल्की-सी चीख निकल गई। इतने में माधवी की सास आ गई। दोनों खिलखिला कर हंस रही थीं लेकिन सास को देख कर सहम गईं। दुलारी उठकर चली गई। सास

ने माधवी के पास बैठ कर कहा, "नौकरों को इतना मुंह नहीं लगाना चाहिए बहू, बहुत मुंहफट हो जाते हैं।"

फिर सास ने उसे एक चिट्ठी थमाई और कहा, "यह लो तुम्हारे नाम है, शायद मायके से आई है।"

माधवी ने लिफ़ाफ़ा पहिचान लिया। पता उसकी सखि शोभा के हाथ का लिखा हुग्रा था। लिफ़ाफ़ा खोलते हुए उसने सास को बताया, "घर से नहीं, शोभा का है - वही, मेरी सहेली।" फिर माधवी ने पत्र पढ़ना शुरू किया। लिखा था :--

'प्य'री माधवी, तुम्हारी शादी क्या हुई कि तुम हमको भूल ही गई। मान लिया कि तुम बड़े घर की बहू बन गई हो लेकिन मैं भी तो तेरे बचपन की सखि हूं। याद करो वह स्कूल ग्रौर कॉलेज के दिन। हां भई अब तुम्हें नौकरों-चाकरों, मोटरों-कारों में रहते हमारी याद कहां ग्राएगी। अब तो बड़े-बड़े लोगों से तुम्हारा मेल-जोल होगा और ऊंची सोसायटी में तुम्हारा घूमना फिरना होगा। माधवी तुम चाहे कुछ भी बन जाग्रो लेकिन मेरे लिए तुम वही माधवी रहोगी।"

ख़त पढ़ते-पढ़ते माधवी की ग्रांखों में आंसू आ गए। यह भी शुक्र कि सास वहां से उठ कर चली गई थी नहीं तो ग्रौर पूछताछ शुरू हो जाती। माधवी के सामने उसका बचपन घूमने लगा—स्कूल और कॉलेज का वह स्वतन्त्र जीवन—तितलियों की भांति इधर-उधर ग्रठखेलियां करते फिरना। उस समय कोई प्रतिबन्ध नहीं था, उत्तर-दायित्व नहीं था और लोक-लाज का भय नहीं था। मर्ज़ी से खाना, मर्ज़ी से सोना-जागना और मर्ज़ी से घूमना - कितना अच्छा था वह

जीवन। माता-पिता ने लाड़ से पाला था। घर में चाहे कई वस्तुओं का अभाव रहा हो लेकिन वह अभाव कभी खटका नहीं था। चाहे कभी अच्छा पहनने को या खाने को न मिला हो, लेकिन इसका कभी आभास नहीं हुआ था। उस जीवन में ख़ुशी थी। कभी मां किसी बात पर डांटती भी तो पिता कह देते, "अभी बच्ची है, बड़ी होकर समझ जाएगी।"

आज माधवी सचमुच बड़ी हो गई थी। वह बच्ची से अब बहू बन गई थी--बड़े घर की बहू। अब कोई यह कह सकता था, "बहू तुम कोई बच्ची तो नहीं हो ......" या यह कह सकता था, "यह लखपती सुदर्शन कुमार की पत्नी है।" जब ख़ुशी मिली थी तो वस्तुओं का अभाव था - नाम का अभाव था। अब नाम मिला, हर चीज़ मिली—पैसा, सम्मान, नौकर-चाकर, कोठी-कार, बढ़िया से बढ़िया कपड़ा-गहना—तो अब ख़ुशी का अभाव था। सब कुछ था लेकिन मन की शान्ति नहीं थी। कई बार माधवी का मन चाहता कि उससे यह सब सुख कोई छीन ले और केवल 'प्यार' उसे दे दे। या फिर कोई उसका पिछला जीवन लौटा दे। वह इस सोने के पिंजरे की क़ैद से ऊब गई थी।

एक दिन अरुणा माधवी को अपने कॉलेज के वार्षिक समारोह में ले गई। माधवी जा नहीं रही थी- यह बात नहीं कि वह जाना नहीं चाहती थी, बल्कि पति के बिना अकेले वह जाना नहीं चाहती थी। सास को ऐसे प्रोग्रामों से रुचि नहीं थी। लेकिन अरुणा ज़िद्द करके उसे अपने साथ ले गई। वापसी पर रास्ते में एक दम मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। अरुणा और माधवी के कपड़े भीग कर

शरीर के साथ चिपक गये।

जब वे घर लौटीं तो सास को यह देख कर गुस्सा तो बहुत आया लेकिन उसने कहा कुछ नहीं। माधवी ने उसके गुस्से को उसके चेहरे से ही भांप लिया था लेकिन अब क्या हो सकता था। जब वह कपड़े बदल कर आई तो सास ने कहा, "बहू स्त्री को अपने पति के साथ ही घूमना-फिरना अच्छा लगता है।"

माधवी ने मन ही मन कहा, "पति को कभी फ़ुर्सत मिले तो तब न," लेकिन बोली कुछ नहीं और इस चोट क अपने ऊपर ले लिया।

बारिश में भीग जाने के कारण माधवी को रात बुख़ार हो गया। लेकिन उसने किसी को भी बताया नहीं। आधी रात तक तो उसको बुख़ार के कारण नींद नहीं आई। सुदर्शन एक बार कॉफ़ी पी कर सो गया था लेकिन फिर उसकी आंख नहीं खुली। आधी रात के बाद माधवी की कहीं आंख लग गई। उसे नहीं मालूम कि वह कितनी देर सोई होगी। लेकिन सुदर्शन की गर्जती आवाज़ ने उसे जगा दिया।

"माधवी! कब से तुम्हें पुकार रहा हूं, तुम तो एक दम घोड़े बेचकर सो जाती हो। दिन भर सोने के सिवा तुम्हें और क्या काम होता है जो रात को घड़ी भर जाग भी नहीं सकती!"

माधवी कुछ नहीं बोली। चुपके से उठकर उसने कॉफ़ी रख दी। उसका बुख़ार बहुत तेज़ था। दिल घबरा रहा था, चक्कर आ रहे थे—लेकिन ऐसे में वह कैसे कहती कि उसे बुख़ार है। जब किसी

को उससे सहानुभूति नहीं थी, तो वह सहानुभूति की भीख क्यों माँगे। उसका स्वाभिमान इस बात की अनुमति नहीं देता था। उसने निश्चय कर लिया कि वह इतनी जल्दी शिथिल नहीं होगी—सब कुछ सहन करेगी। लेकिन उसके शरीर ने उसके निश्चय का साथ न दिया। वह चमच से पानी में कॉफ़ी डाल रही थी कि उसको चक्कर आ गया। उससे संभला न गया और वह संभलते-संभलते भी फ़र्श पर गिर पड़ी। कॉफ़ी का डिब्बा हाथ से छूट गया और कॉफ़ी सारे फ़र्श पर बिखर गई।

"क्या हुआ माधवी !" कह कर सुदर्शन एक-दम बिस्तर से उछल कर उठ खड़ा हुआ और उसने माधवी को पकड़ कर उठाते हुए फिर कहा, "माधवी क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं"··· कह कर माधवी ने अपने पांवों खड़े होने का प्रयास किया। लेकिन इतने में सुदर्शन को किसी हद तक पता लग गया था कि क्या हुआ। उसने माधवी को पकड़ कर चारपाई पर लिटाते हुए कहा, "माधवी तुम्हें इतना सख़्त बुख़ार है और तुमने बताया तक नहीं। तुम्हें तो अपने शरीर का भी ख़्याल नहीं रहता।"

माधवी ने आगे से किसी बात का उत्तर नहीं दिया। केवल इतना ही कहा, "वह कॉफ़ी ···"

"कॉफ़ी की तुम चिन्ता न करो, मैं ख़ुद बना लूंगा। तुम्हें इतना बुख़ार है तो दवा लेनी चाहिए थी, डाक्टर को बुलाना था।"

"मामूली सा है, उतर जायगा।"

"आग की भांति तुम्हारा शरीर तप रहा है और तुम इसे

मामूली-सा कहती हो।"

दूसरे दिन सबेरे डाक्टर आ गया। माधवी को दवा पिलाई गई, इन्जैक्शन भी लगाया गया। दुलारी को पास बैठने की ड्यूटी लग गई। सास और ननद भी बार-बार आकर हाल पूछतीं।

शाम तक उसका बुख़ार उतर गया। वह ज़रा टहलने के लिए मकान की छत पर चढ़ी। सामने सड़क पर आने-जाने वालों की भीड़ थी। दफ़्तर से छुट्टी का समय था। सभी लोग अपने-अपने घरों को भागे जा रहे थे। सूर्य अभी ढला नहीं था लेकिन हवा में थोड़ी ठंडक आ गई थी।

सामने से एक रिक्शा माधवी के घर की ओर आ रहा था। पहले तो माधवी ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया लेकिन जब वह मकान के बिल्कुल सामने आ गया तो माधवी देख कर एक दम चौंक पड़ी। "अम्बर!" उसके मुंह से अपने आप यह नाम निकला और वह दौड़ी-दौड़ी नीचे अपने कमरे में चली गई।

तभी उसकी सास की आवाज़ आई, "बहू देखो तुम्हारे मायके से कोई आया है।" माधवी, बाहर आई तो सास ने कहा तुम्हारे मायके से कोई अम्बर कुमार आया है।"

"अच्छा! ज़रूर मां ने भेजा होगा। कहां है?"

"मैंने उसे बैठक में बिठा दिया है, तू जा कर देख ले मैं दुलारी से चाय बनाने को कह आऊं।'

अम्बर का नाम सुनते ही माधवी का हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। यह धड़कन तो तभी शुरू हो गई थी जब से अम्बर को

रिक्शा से उतरते देखा था। यह धड़कन भय, आशंका और प्रसन्नता आदि मिश्रित भावों की थी। माधवी ने कल्पना भी न की थी कि यहां अम्बर से भेंट हो जाएगी।

वह अम्बर को पिछले पांच वर्षों से जानती थी—लेकिन ऐसे लगता था कि पांच वर्षों से नहीं अपितु वह उसे बचपन से ही जानती है—तभी से जानती है जब से उसने होश संभाला।

विवाह से पहले जहां माधवी नौकरी करती थी, अम्बर भी उसी दफ़्तर में काम करता था। पहिचान तो उनकी कॉलेज के ज़माने से ही थी, लेकिन एक जगह नौकरी करने से यह पहिचान और गहरी हो गई थी। अम्बर का माधवी के घर अच्छा आना-जाना था—इस लिए दोनों को एक-दूसरे को जानने का, एक-दूसरे से बातें करने का और एक-दूसरे की रुचि जानने का अच्छा अवसर मिला था। जहां दो व्यक्तियों में पारस्परिक विचार मिलते हों—जहां एक-दूसरे के लिए सहानुभूति सद्भावना और कुछ त्याग की भावना पैदा हो जाए तो प्रेम बढ़ ही जाता है। माधवी और अम्बर के बीच भी कुछ ऐसा ही 'अपनत्व' था। उन्हें एक-दूसरे को देख कर बहुत प्रसन्नता होती—अपितु एक-दूसरे को देखने के लिए व्याकुल रहते। एक के दफ़्तर न जाने पर दूसरे का मन न लगता और वह शाम को घर आ जाता। दोनों का स्वभाव मिलता था, रुचियां मिलती थीं और विचार मिलते थे। माधवी के चेहरे पर यदि ज़रा सी उदासी की झलक आती अथवा कभी भी उसका मन उदास होता तो अम्बर उसको ऐसी बातों में डाल लेता कि माधवी को सब-कुछ भूल जाता और वह खिलखिला कर हंसने लगती। अम्बर अक्सर उससे कहा करता, 'यदि मेरा बस चले तो मैं तुम्हें कभी उदास न होने दूं और सदैव खुश रखूं।"

एक दिन अम्बर किसी कारण दफ़्तर न आ सका। दूसरे दिन भी वह नहीं आया। माधवी को बड़ा अजीब-सा लग रहा था। लेकिन अम्बर पूरे पांचवें दिन आया। मौका पा कर माधवी ने उससे पूछा, "तुम दफ़्तर भी नहीं आए और घर पर भी नहीं आए ऐसी क्या बात थी?"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह बोला, "माधवी, मैं सोचता हूँ कि हम न ही मिला करें तो ठीक है।"

"क्यों?"

"क्यों कि बिछुड़ने पर दुःख होता है। मेरे ख़्याल में उसी चीज़ के पीछे भागना चाहिए जिसके मिलने की आशा हो। जिसके मिलने की आशा नहीं उसके पीछे जाना दुःखों को निमन्त्रण देना है।"

"आज यह बात कहां से सूझी?"

"सूझी तो बहुत देर से थी लेकिन······"

"तो फिर अब तक क्यों मिलते रहे हो?"

'यह सोच कर कि तुम्हारा जितना साथ प्राप्त हो सके, उतना ही सही—इतने साथ को ही मधुर स्मृति बना कर मैं मन में सजा कर रख लूंगा। साथ यह भी सोचता हूँ कि जितनी खुशी तुम्हें दे पाऊं उतना ही मेरा अहोभाग्य।"

"तो अब यही बात क्यों नहीं सोचते?"

"कहीं एक दम बिछुड़ने से दुःख न उठाना पड़े इस लिए पहले

से ही आदत डालना चाहता हूं। माधवी मैं सोचता हूँ तुम पहले इतनी देर कहां रही—पहले मुझे तुम क्यों न मिल सकी। हमारी भेंट बहुत देर से हुई। यदि हमारी भेंट कुछ समय पहले हो जाती तो जीवन की गति कुछ और ही होती।"

"संयोग की बात है अम्बर ! तुम्हारी 'वह' कितनी खुशक़िस्मत है जिसे तुम्हारे जैसा साथी मिलेगा।"

"कौन जाने खुशक़िस्मत है या बेचारी बदक़िस्मत है। मैंने तो अभी तक उससे बात भी नहीं की। पहले से ही मेरी शादी की बात उससे तय न हुई होती तो मैं कभी नहीं मानता। लेकिन अब मैं उसका दिल नहीं तोड़ सकता। उससे बेवफ़ाई नहीं कर सकता। आखिर उस बेचारी का क्या दोष है। उसने भी न जाने कितने स्वप्न संचित किए होंगे—न जाने भविष्य के कैसे ताने-बाने बुने होंगे और न जाने क्या-क्या कल्पना की होगी। उसके सपनों के महल को यों गिराना घोर स्वार्थ होगा। अपने स्वार्थ के लिए या अपने सुख के लिए किसी का दिल तोड़ना केवल-मात्र स्वार्थ ही तो है। और फिर प्रेम तो एक सूक्ष्म भावना है जिसे हृदय के किसी भी कोने में सुरक्षित रखा जा सकता है। जीवन तो 'एक' के साथ ही व्यतीत किया जा सकता है लेकिन हृदय-सागर में जितनी भाव-लहरियों को चाहें समेट कर रखा जा सकता है।"

"अम्बर, यही आश्रय क्या कम है कि विश्व में कोई अपना भी है, कोई शुभेच्छक है, जिसके मन में हमारे लिए प्यार है, सहानुभूति है और मधुर स्मृति है।"

"मैं मन की बात स्पष्ट कहे बिना नहीं रह सकता—और विशेष-

कर उनसे जिन पर मुझे पूरा भरोसा हो। आज तक मेरे विश्वास और भरोसे को किसी ने ठेस नहीं पहुंचाई। मैं नारी की विवशताओं और परिस्थितियों को समझता हूँ, इस लिए तुम जहां भी जाओगी, बाद में मुझ से जैसा भी व्यवहार करोगी—तुम्हारे प्रति मेरी भावना में कोई अन्तर नहीं आएगा।"

विवाह के बाद माधवी ने अम्बर को कोई पत्र नहीं डाला था। कई बार सोचा भी, लेकिन यही सोचके न लिख सकी कि क्या लिखूं। झूठ वह लिखना नहीं चाहती थी और सच वह लिख नहीं सकती थी।

वही अम्बर आज यहां आया था। माधवी के पांव बैठक की ओर बढ़ रहे थे लेकिन साथ ही उसकी कंपन और थिरकन बढ़ रही थी। फिर भी उसने साहस किया और जाकर बोली, "आज आप को इधर का मार्ग कैसे सूझा?"

"तुम कहो तो वापिस चला जाता हूँ।"

"श-श-श!" माधवी ने संकेत किया कि कोई पीछे आ रहा है। इस लिए उसने 'तुम' के स्थान पर 'आप' शब्द का प्रयोग किया था ताकि किसी को उनकी अनौपचारिकता का आभास न हो। अम्बर भी संभल गया और उसी लहजे में बोला, "यहां किसी ज़रूरी काम से आया था, सोचा जाते-जाते आप लोगों को मिल चलूं।"

"बड़ी कृपा की आपने। घर में सब ठीक तो हैं?"

"सब ठीक हैं और आपके माता-पिता भी ठीक हैं।" इतने में माधवी की सास दुलारी को साथ लिए चाय लेकर आ गई। उसने

भी पूछा, "कहो बेटा हमारी समधन-समधी कैसे हैं ?"

"सब ठीक हैं मां जी, अपनी बेटी को बहुत याद करते हैं कि बहुत देर से मिलने नहीं आई।"

इसके बाद घर की अनेकों बातें चलीं। सास ने अपने समधियों के विषय में पूछताछ शुरू की। इतने में बाहर कोई सुदर्शन का भेजा व्यक्ति आ गया और सास को बाहर जाना पड़ा। अम्बर ने मौका पा कर कहा, "भई अब तो आप बड़े लोग हुए" फिर उसने कमरे की सजावट की ओर एक नज़र दौड़ाई और बोला, "भई क्या ठाठ हैं सचमुच ही आप भाग्यशालिनो हैं जो ऐसा घर मिला—आपकी मां का यह सपना तो सच्चा हुआ कि मेरी बेटी जा कर राज करेगी।"

माधवी का चेहरा एक दम उतर गया। आंखें डबडबा आईं लेकिन उसने अपने अश्रुओं को रोक लिया। बोली, "सभी लोग यही कहते हैं तो आप भी कह लीजिए।"

"क्षमा करना माधवी—शायद मैं अनजाने में तुम्हारे मर्म को स्पर्ष कर गया हूं। मैं जानता हूँ—जानता हूँ इसी लिए मुझे दुःख होता है। तुम्हारे पत्र न लिखने से ही मैं जान गया था। अगर तुम खुश होती तो ज़रूर मुझे पत्र डालती। सुख और खुशी केवल धन-दौलत से नहीं मिलती।"

अब तो सचमुच ही माधवी को आंखें छलक पड़ीं। उसने बात को काट कर कहा, "आज आप यहां ठहर रहे हैं न ?"

"नहीं माधवी मुझे रात की गाड़ो से वापिस जाना है। जिस काम के लिए आया था वह हो गया।" और फिर, एक और बोझ

लेकर अम्बर वहां से चला गया।

जब से अम्बर वापिस गया, माधवी और भी उदास रहने लगी। वह जानती थी कि अम्बर उसके दुःख से दुःखी है। घर में वैसे भी माधवी का दिल नहीं लगता था। कई बार वह चाहती कि कहीं उसकी नौकरी लग जाए तो कितना अच्छा हो। कम-से-कम कुछ वातावरण में तो परिवर्तन आ जाए। गुम-सुम रहने की बजाए खुल कर बात करने का अवसर तो मिले। घर में दुलारी या कभी-कभी ननद के अतिरिक्त वह किसी के साथ हास्य-विनोद भी न कर पाती थी। इस लिए रह रह कर उसे अपने बचपन की सखियां याद आतीं या फिर याद आता था अम्बर जो इसके दुःख दर्द को समझता था।

अब तो माधवी का स्वास्थ्य भी पहले जैसा न रहा। हर समय की घुटन मे भला स्वास्थ्य क्या रहता, और फिर ऊपर से खाना भी मर्ज़ी का न पकता था। घर में प्याज़, लहसन तथा मांस-अण्डे मछली आदि वर्जित थे। प्याज़ के बिना तरकारी माधवी को बिल्कुल न भाती—लेकिन विवश होकर खानी पड़ती। मांस-अण्डे आदि की तो उसे अधिक चाह न थी लेकिन प्याज़ जैसी साधारण वस्तु के लिए भी वह तरसती रहती। प्रत्येक घर का खाने-पीने का अपना ही स्तर अथवा हिसाब होता है। माधवी इस घर के भोजन से अभ्यस्त न हो पाई थी।

आज दीवाली का दिन था। सभी ओर खुशियां नाच रही थीं। माधवी अपनी ननद के साथ बाज़ार तक चली आई। साथ में दुलारी भी थी। सास घर में ही रही। जब वे वापिस लौटीं तो सुदर्शन भी

घर पर ही था। उसने बड़े ग़ुस्से से माधवी से पूछा, "क्या लाई हो बाज़ार से ?'

माधवी ने सहम कर उत्तर दिया, 'यह कुछ कपड़े हैं और कुछ मेकअप का सामान। मैं आपको दिखाती हूँ।"

"मैंने देखने के लिए नहीं कहा। और क्या लाई हो ?"

"और···और हां ये दो शीशे के गिलास लाई हूं कॉफ़ी पीने के लिए। मुझे इनकी बनावट बहुत अच्छी लगी इस लिए ले आई, वैसे कोई खासे-अच्छे नहीं हैं।"

सुदर्शन ने उसी लहजे में पूछा, "मेरे लिए क्या लाई हो ?"

"आप आप आपके लिए तो···कुछ नहीं लाई। कहिए क्या ला दूं ?"

"यह भी बताना होगा।" सुदर्शन का स्वर और तीव्र हो गया। "लाओ दो वे गिलास !"

माधवी ने दो छोटे गिलास सुदर्शन को थमा दिए। सुदर्शन ने एक-एक गिलास अपने हाथ में लिया और इतनी ज़ोर से दबाए कि दोनों गिलास टूट कर उसकी हथेलियों में धंस गये। हथेलियों से रक्त बहने लगा। माधवी स्तब्ध-सी रह गई। वह जल्दी में कुछ निर्णय न कर पाई कि क्या कहे या क्या करे। उसे तो यह भी समझ नहीं आ रही थी कि बात क्या हुई। उसने सुदर्शन के दोनों हाथ पकड़कर कहा, "यह आपनेक्या किया। कितना रक्त बह निकला है।"

"बहने दो !" कह कर सुदर्शन ने झटके से अपने हाथ छुड़ाए

और बाहर को चला गया। माधवी अपने कमरे में जाकर बहुत रोई। शीशे के टुकड़े सुदर्शन के हाथों में चुभे थे लेकिन पीड़ा उसे हो रही थी। रक्त उधर बह रहा था हृदय इधर घायल हो रहा था। उसे ऐसे लगा कि किसी ने उसके वक्ष में खंजर भौंक दिया है और अब वह बच न सकेगी। सुदशन के इस कार्य से अरुणा भी चकित थी लेकिन वह बोली कुछ नहीं।

इस घटना से उसे रात भर नींद नहीं आई। वह चाहती थी सुदर्शन बार-बार उसे कॉफ़ी बनाने को कहे, लेकिन उस रात उसने केवल दो बार ही कॉफ़ी मांगी।

दिन को भी उसका मन बहुत उदास रहा। किसी से बात करना उसे अच्छा नहीं लग रह था। आज तो दुलारी से भी उसने बात न की थी। वह चाहती थी कोई 'अपना' सामने आए तो उससे वह 'हृदय' की सारी व्यथा कह सुनाए। उसके मन का बोझ बहुत बढ़ गया था; वह इस बोझ को हल्का करना चाहती थी। लेकिन किस के सामने मन को व्यथा कहे ?

वह कुछ लिखने बैठ गई। पहले उसने मां को पत्र लिखना चाहा, लेकिन क्या लिखे ? अपने दुःख ? नहीं ! मां ने तो कहा था, "बेटी अब इस घर की लाज तेरे हाथों में है।" फिर उसने शोभा को पत्र लिखना चाहा – लेकिन यह सोच कर रुक गई कि शोभा के पेट में बात पच न सकेगी। तब किसको लिखे ?

"अम्बर !" उसके होठों पर यह नाम आया। "हां उसी को लिखना चाहिए। उससे किसी प्रकार की हानि का डर तो नहीं।" और फिर उसने लिखना शुरू किया :—

"..... मैं तो यह नहीं जान पाई कि जीवन क्या है—सुख क्या है त्याग क्या है। क्या त्याग से सुख मिलता है या जीवन मिलता है! सुख मिलने लगे तो कांटों की नोक पर भी मिलता है और नहीं मिलता तो फूलों की शैय्या पर भो नहीं सिलता। व्यक्ति सोचता क्या है और होता क्या है ....."

और इस प्रकार उसने अपनो, सारी वेदना उड़ेल दी। पत्र बहुत लंबा हो गया था लेकिन इसके साथ ही माधवी के मन का बोझ भी हल्का हो गया था। उसकी घुटन का और दमित भावनाओं का प्रवाह एक दम बह निकला था। आज पहली बार उसने मन की बात बाहर प्रकट की थी—पहली बार मन में पड़े बोझ को नीचे उतार रखा था और आज पहली बार मन के किवाड़ खुलने से उनके पीछे रुका धुआं बाहर निकला था।

पत्र को जब वह लिफाफे में बन्द करने लगी तो उसके हाथ रुक गये। "क्या मुझे ये सब बातें अम्बर को लिखनी चाहिए?" उसने स्वयं से ही प्रश्न किया। "इन्हें लिखने का क्या लाभ! अब यदि मैं यह पत्र न भी भेजूं तो क्या! इसमें अम्बर क्या कर सकेगा। मैंने अपने मन की बात तो कह ही दी है, अब यदि सुनने वाले तक न भी पहुँचे तो क्या है! सुख मैं किसी का दे नहीं सकती तो दुःख में क्यों किसी को सांझेदार बनाऊं।"

फिर उसने सोचा, "नहीं नहीं! बड़ी मुश्किल से मैं मन में दबे भावों को प्रकट कर पाई हूं, मैं इन्हें व्यर्थ नहीं जाने दूंगी।"

उसे कुछ आवाज़ें सुनाई देने लगीं···"बेटी इस घर की लाज तेरे हाथों में है। कभी कोई ऐसा काम न करना जिससे इस घर पर

कलंक आए······" "बेटी अब इस घर को अपना ही घर समझो। तू अब इस घर की लक्ष्मी है। इस घर की लाज अब तेरे हाथों में है"··· "बीबी जी यह तो ऐसे ही होता आया है····· पति परमेश्वर होता है—उसका हुक्म मानना हर औरत का फ़र्ज़ है···पति को सब कुछ कहने का हक़ है ·····"

"ओह ! ये लोक-लाज, यह धर्म - यह उपदेश मेरी जान ले लेंगे···इनमें से कोई भी मेरे दुःख को नहीं समझता। ऐसा होता आया है—होता आया है—क्या होता आया है ! यही कि नारी सब कुछ सहती रही है--घुन की भांति अन्दर-ही-अन्दर खोखली होती रही है···पिसती रही है···सब कुछ सहना उसका कर्तव्य है....ज़बान न खोलना उसका कर्तव्य है—कितना बड़ा जेलखाना मेरे लिए सजा कर रखा गया है···सब कुछ यों ही होता आया है···यही हमारी परंपरा रही है ··जब ··जब "

सहसा उसका स्वाभिमान कहीं से जाग पड़ा—उसका अहम्-भाव प्रबल हो गया - उसमें शक्ति आ गई, "ऐसा होता आया है—अर्थात् नारी इसी प्रकार सहन करती आई है - तो मैं किसी नारी से कम नहीं हूँ—औरों ने सहा तो मैं भी सहन करूंगी—औरों ने हार नहीं मानी तो मैं क्यों मानूं ! मुझ में शक्ति है······मैं किसी से कम नहीं······किसी से दुर्बल नहीं ···"

और उसने अपने हाथों लिखे पत्र को अपने ही हाथों से जला डाला।

चार दीवारी

अर्चना अपने पति को दफ़्तर भेजने के बाद, ठंडी चाय को दोबारा गर्म करके स्टोव के पास ही पीने बैठ गई। पति मुन्ने को स्कूल छोड़ने के लिए साथ ही ले गये थे। चाय का प्याला हाथ में थामे अर्चना ने एक बार रसोई में बिखरी सभी चीज़ों की ओर नज़र दौड़ाई। कोई बर्तन कहां पड़ा था कोई कहां। अभी थोड़ी देर पहले इसी रसोई में खूब चहल-पहल थी। मुन्ना नाश्ता करते वक्त अलग शोर-ओ-गुल मचा रहा था और पति-देव अलग कभी किसी चीज़ के लिए, कभी किसी बात पर अर्चना को बुला रहे थे। अर्चना को कभी चपाती तवे पर छोड़कर उठना पड़ता कभी सब्ज़ी का मसाला भूनते हुए। अगर मुन्ने को कोई पुस्तक नहीं मिल रही या पैंसिल नहीं मिल रही तो उसकी ज़िम्मेदार अर्चना। अगर पति देव को मौज़े, रुमाल या पेनॅ नहीं मिल रहा तो उसको तलाश करे अर्चना।

लेकिन अब रसोई में बिल्कुल शान्ति थी। मुन्ना और पतिदेव दोनों अपनी-अपनी चीज़ें पूरी करके अपने-अपने काम चले गये थे। शाम तक दोनों ने बाहर रहना था। दोनों अपना-अपना दोपहर का

भोजन साथ ले गये थे। अर्चना चाय पीते-पीते, मन-ही-मन दिनभर की योजना बनाने लगी कि सारा दिन कैसे कटेगा। घर में एक वह थी और दूसरी उसकी गोद में एक वर्ष की बेबी। मकान में न मालिक मकान था और न ही कोई दूसरा किराएदार। ऐसा मकान उसने अपनी मर्ज़ी से ही लिया था क्योंकि मकान में अधिक हल्ला-गुल्ला और दख़लअन्दाज़ीं न उसे पसन्द थी न ही उसके पति को। लेकिन अब अर्चना को दिन भर अकेले पड़े रहना भी अखरने लगा। बेबी से वह अपनी क्या बात कर सकती थी।

चाय पी कर अर्चना ने जूठे बरतन बटोर कर एक जगह इकट्ठे किए, और बेबी को पलने में लिटा कर कमरे की झाड़-फूंक करने लगी। बर्तनों की सफ़ाई और बाहर की झाड़-बुहारी का काम तो वह महरी से करवाती थी, लेकिन कमरे की सफ़ाई जब तक वह ख़ुद न करे उसे तसल्ली नहीं होती थी। इसका कारण यह था कि उसे न तो किसी की, की हुई सफ़ाई पसन्द थी और न ही यह पसन्द था कि कमरे में सजावट की चीज़ों को कोई अपने स्थान से इधर-उधर कर दे।

अब दिन भर और कोई चाहे आए या न आए लेकिन दो व्यक्तियों की प्रतीक्षा अर्चना को थी। एक महरी और दूसरी मिहतरानी की। ये दोनों स्त्रियां बिला नाग़ा रोज़ आती थीं और इनमें से एक के भी आने से अर्चना को बहुत सांत्वना मिलती। एक के भी ज़रा देर करने से उसे कुछ चिन्ता-सी होने लगती कि पता नहीं आज वह आएगी या नहीं। और आज तो मिहतरानी ने सचमुच देर कर दी। ग्यारह बज चुके थे और वह अभी तक नहीं आई थी। पहले तो उसने कभी आठ भी नहीं बजने दिए थे। बेबी पलने में ही पड़ी

सो गई थी। अर्चना कमरे को साफ़ करके सोचने लगी कि अब क्या करे। इस समय महरी या मिहतरानी में से कोई एक आ जाती तो अच्छा था। काम भी निपट जाता। उसने एक बार सोचा कि महरी को तो यों ही बेकार में लगाया। इतने कौन से अधिक बर्तन थे जो वह खुद नहीं साफ़ कर सकती थी। इतनी देर तक उसकी राह देखने से तो अब तक उसने सारा चौका समेट लिया होता।

"लेकिन नहीं," उसे फिर ख़्याल आया, "प्यारी कितनी अच्छी है। कितनी मज़ेदार बातें करती है।"

यही वह बात थी जिसके लिए अर्चना प्यारी की प्रतीक्षा कर रही थी। प्यारी उसके एकाकीपन के कुछ हिस्से को बांट जाती थी। अर्चना को भी अपने-आप पर हैरानी थी कि कहां वह कॉलेज के समय किसी से बात करना तक नहीं पसन्द करती थी, कहां आज वह महरी से बात करने को तरस रही है। उसने रेडियो लगाया, गाना चल रहा था, "याद न जाए बीते दिनों की, ।" अर्चना अपने बीते दिनों की याद में खो गई। यह तो व्यक्ति की प्रकृति है कि अतीत चाहे कितना ही अप्रिय रहा हो, फिर भी याद आता है और वर्तमान चाहे कितना सुहाना हो, उससे सन्तुष्टि नहीं होती। अर्चना को अपने बचपन के दिन और फिर कॉलेज के दिन याद आने लगे।

बाहर दरवाज़े पर दस्तक हुई। अर्चना ने समझा महरी आ गई। दरवाज़ा खोला—मिहतरानी थी।

"आज तो तू ने बड़ी देर कर दी," अर्चना ने दरवाज़े पर ही मिहतरानी से प्रश्न किया।

"क्या करूं बीबो जी, आज मेरा लड़का बहुत बीमार है," मेहतरानी की आवाज़ में बहुत मायूसी-सी थी। उसने डबडबाई आंखों से कहा "बुख़ार कम होता ही नहीं! अब भी 102 है। मैं तो आज आना ही नहीं चाहती थी, लेकिन मैंने सोचा, आप यों ही इन्तेज़ार करती रहेंगी।"

"कुछ दवा-वगैरा भी दी?" अर्चना ने पूछा।

"हां दवा तो दी है, लेकिद बुख़ार अभी नहीं उतरा। छोटी लड़की के हवाले कर आई हूँ। लेकिन वह तो नासमझ है और फिर मा की तरह कौन देख-भाल कर सकता है।"

"हां, यह तो ठीक है। अच्छा चल मैं तुझे पानी डाल देती हूँ, तू ने जल्दी जाना होगा।"

"हां बीबी जी आज मैं आपके पास न बैठ सकूंगी।" मिहतरानी ने चिन्तित से स्वर में कहा और झाड़ू-टोकरी उठा कर अपने काम में लग गई। अर्चना पानी की बाल्टी भर कर उठाने ही लगी थी कि पीछे से आवाज़ आई, "ठहरिए बीबी जी, मैं डाल देती हूँ।"

"कौन, तू?" अर्चना ने मुड़कर देखा। यह महरी थी। "तुझे भी आज ही देर से आना था?"

"क्या करूं बीबी जी···अच्छा फिर बताती हूं पहले लाओ पानी डाल दूं।" और महरी ने बाल्टी अर्चना के हाथ से ले ली।

अर्चना ने बाल्टी थमाते हुए कहा, "ले जल्दी डाल दे, बेचारी

का बच्चा बीमार है।"

जब मिहतरानी चली गई तो महरी बैठ गई बर्तन साफ़ करने और पास ही आ बैठी अर्चना। "हां अब बता क्या कह रही थी?" अर्चना ने महरो को याद दिलाया कि उसने कुछ बात बताने को कहा था।

"मैं कह रही थी कुछ?"

"हां, मैंने तुझ से पूछा था न कि तू आज देर से क्यों आई?"

"ओ, अच्छा! आज बीबी जो, आज फिर घर में लड़ाई हो गई थी।"

"किसी पड़ोसी के साथ?"

"नहीं बीबी जो, उनकी और मेरी।"

"महरो, कोई दिन खाली भी जाता है जब तुम्हारी लड़ाई नहीं होती?"

"क्या करूं बीबी जो, वे रोज़ कोई न कोई बहाना ढूंढ़ कर मुझे पीटने लगते हैं।"

"तेरा पति तुझे पीटता है!"

"हां बीबी जी, कई बार पोट चुके हैं।"

"पति अपनी बोवी को पीटता है!"

"हां बीबी जी—आप··आप···के···"

"क्या बकती है! मेरे पति ने तो कभी मुझे हाथ तक नहीं

लगाया।"

"बीबी जी क्यों झूठ बोलती हैं ! हाथ तो ज़रूर लगाया होगा, मगर गुस्से से नहीं, प्यार से।"

"चल शरीर कहीं की।"

"सच बीबी जी, कई बार मैं सोचती हूं कि वे पति भी होते हैं जो अपनी बीबी पर हाथ नहीं उठाते।"

"तुझे अपना पति अच्छा नहीं लगता ?"

"नहीं बीबी जी अच्छे तो बहुत लगते हैं।"

"तुझे मारता जो है।"

"तो क्या। मार खाना तो हमारी आदत बन चुकी है। वे पति हैं—उन्हें पूरा हक़ है।"

"पगली अब तो जमाना बदल चुका है। अब स्त्री और पुरुष के बराबर हक़ हैं।"

"न बीबी जी, मुझ से पुरुष की बराबरी नहीं होती, नहीं तो और पिटाई हो जाएगी।"

"अच्छा महरी अब यहां से काम करके तू ने किधर जाना है ?"

"यहा से जाऊंगी वह मोड़ पर पीली कोठी में। क्यों ? आप को कोई काम है—मेरा मतलब कोई चीज़ मंगवानी है तो ला देती हूँ।"

"नहीं, चीज़ तो कोई नहीं मंगवानी। मैं सोचती थी अगर तू सब का काम खत्म कर आई है तो यहीं ठहर जा। दोपहर को यहीं खाना खा लेना।"

"नहीं बीबी जी, अभी तो जाकर उनके लिए भी खाना बनाना है। अभी एक घंटा तो उस पीली कोठी में ही लग जाएगा।"

"वहां क्या ज़्यादा काम होता है?"

"हां कुछ ज़्यादा ही होता है। लेकिन बीबी जी···"

"क्या है?"

"वे भी बेचारे दुःखी हैं:"

"क्यों? तू तो कहती थी वे अच्छे खाते-पीते हैं।"

"सो तो है, लेकिन उनकी लड़की ससुराल से वापिस आई हुई है।"

"तो क्या हुआ।"

"एक साल हो गया आई को—ससुराल वाले फिर लेने ही नहीं आए।"

"क्यों?"

"ठीक तरह से तो मालूम नहीं लेकिन सुना है कि शायद अब वे इसे बुलाएंगे नहीं। सुना है कुछ दहेज के मामले में अनबन हो गई है। दिया तो इन्हों ने बहुत कुछ था, लेकिन लड़के वालों का पेट न भरा होगा। बेचारे बहुत दुःखी हैं। लड़की बेचारी को तो मानो घुन लग गया हो। अच्छी भली है—खूबसूरत है—ज़रा पढ़ी कम है।"

"तब तो बेचारी खुद को मां-बाप पर बोझ ही समझती होगी।"

"हां—लेकिन उसने अब पढ़ाई शुरू कर दी है। मां-बाप ने शादी पर इतना खर्च भी किया, लेकिन बेचारी का फिर भी घर न बसा।"

महरी का काम समाप्त हो गया और इसके साथ ही अर्चना का उसके साथ वार्तालाप भी। जब वह चली गई तो अर्चना को ऐसे लगा जैसे वह आई ही नहीं थी। अर्चना को पढ़ने का शौक था, इस लिए उसने चुन-चुन कर पुस्तकें इकट्ठी की हुई थीं। लेकिन अब उसका मन इन पुस्तकों से भी उचाट होता जा रहा था। काफ़ी अरसे से उसने कोई नई पुस्तक नहीं ख़रीदी थी। अब तो वह कविता की कोई पुस्तक कभी देख लिया करती। क्योंकि कविता को वह जितनी बार पढ़ती उतनी बार उसे नया ही रस प्राप्त होता और नई अनुभूति होती। उसके मन में एक हलकी सी कसक उठी। 'अगर इस घर की चार दीवारी में ही उलझना था, इस चूल्हे-चौके में ही फंसे रहना था तो बी० ए० पास करने का क्या लाभ?" उसने सोचा। "मुझ में और उस महरी में क्या फ़र्क है? यही कि उसका पति उसे मारता है—लेकिन वह घर की चार दीवारी में क़ैद तो नहीं।"

उसने एक मैगज़ीन खोल लिया। उसमें एक गीत छपा था। अर्चना उस गीत की पंक्तियां गुनगुनाने लगी। सहसा बाहर का दरवाज़ा खटका। "कौन" कहते हुए उसने जब दरवाज़ा खोला तो सामने मुहल्ले की ही एक स्त्री खड़ी थी। "आइए, अन्दर आइए" अर्चना ने बड़े उत्साह से उस स्त्री को निमन्त्रित किया। वह स्त्री

अन्दर आ गई और बोली, "बाज़ार जा रही थी, सोचा तुम से मिलती चलूं। अभी सब्ज़ी लेकर आई थी तो दही लाना भूल गई।"

अर्चना को इस स्त्री से मन ही मन में कुछ स्पर्धा होने लगी जो सुबह से बाज़ार के दो चक्कर लगा आई थी और अब तीसरी बार जा रही थी। वह बोली, "आइए, कुछ देर बैठिए तो सही।"

उस स्त्री ने वहीं खड़े खड़े कहा, "नहीं बहन, अब नहीं, फिर कभी बैठूंगी। पहले ही देर हो गई है। पता नहीं अब तक दही मिले भी कि न। कभी तुम भी हमारे हां आया करो न, पास ही तो है, कौन सा दूर जाना है।"

अर्चना ने कहा, "घर के काम-काज से कहां फ़ुर्सत मिलती है, फिर भी कभी शाम को आऊंगी।"

"सारा दिन घर में पड़ी रहने से तुम्हारा दिल नहीं तंग पड़ता बहन ?" उस स्त्री ने वही बात की जिसे अर्चना भूलना चाहती थी। "भई मैं तो घर में इस तरह अकेली नहीं रह सकती। किसी के घर नहीं तो बाज़ार की तरफ़ ही निकल जाती हूँ।"

"आपकी और बात है बहन, लेकिन मैं ..."

"तुम्हें क्या है। अगर मैं तुम्हारे जितना पढ़ी होती तो ज़रूर कहीं नौकरी कर लेती।"

"आपकी और बात है। मेरी यह छोटी बेबी है, इसकी देख-भाल कौन करे ? आदमी अकेला हो तो चाहे जिधर चल दे लेकिन स्त्री और फिर लोग ..."

"अरे लोगों की बात छोड़ो। लोग तो मुझे भी कहते होंगे कि हर वक्त घूमती ही रहती है। मैं नहीं लोगों को परवाह करती। अपनी ख़ुशी देखें या लोगों की? और फिर घर से बाहर जाने में कौन-सी मान-मर्यादा भंग होती है?"

"अभी तो बेबी छोटी है, ज़रा बड़ी हो ले फिर आना-जाना आसान हो जायेगा," अर्चना ने बात को यहीं समाप्त करने के लिए कहा। और वह स्त्री भी चली गई। फिर उसने एक नई साड़ी को फ़ॉल लगानी शुरू की। फ़ॉल जब लगी तो अभी दिन के साढ़े तीन बजे थे। मुन्ने के आने में अभी काफ़ी देर थी और पति के आने का कोई निश्चित समय नहीं था। कभी साढ़े पांच बजे कभी छः और कभी साढ़े सात तक भी बज जाते थे। कई बार पति उसे सुबह कह जाते कि आज शाम को पिक्चर देखने चलेंगे, मेरे आने तक तैयार रहना, लेकिन ख़ुद सात या साढ़े सात बजे आते और अर्चना की तैयारी यों ही रह जाती।

अर्चना मकान की छत पर चढ़ कर ज़रा टहलने लगी। सूर्य आकाश में बादलों से आंख-मिचोली खेल रहा था। सामने सड़क पर मोटरों की और आने-जाने वालों की भीड़ दिखाई दे रही थी। अर्चना ने देखा कि सामने के मकान पर एक पुरुष उसकी ओर टिकटिकी लगाए देख रहा है। अर्चना ने उधर पीठ फेर दी और सड़क की भीड़ देखने लगी। थोड़ी देर बाद जब उसने फिर सामने के मकान की ओर देखा तो वह पुरुष अब भी वैसे ही देख रहा था। अर्चना को उस पुरुष का इस तरह देखना बहुत अखरा और वह नीचे उतर आई। बेबी अभी सोई हुई थी। गली में किसी फेरी वाले की आवाज़

आ रही थी। वह गली का नज़ारा देखने के लिए बाहर आई। दरवाज़ा खोल कर उसने देखा एक छाबड़ी वाले को बच्चों ने घेरा हुआ था। फिर उसके दिमाग़ में एक और छाबड़ी वाला घूम गया जो मुन्ने के स्कूल के बाहर बैठा है। उसे भी स्कूल के बच्चों ने घेर लिया है। उन बच्चों में उसका मुन्ना भी खड़ा है।

इतने में उसके दोपट्टे का पल्लू किसी ने खींचा। उसने घबरा कर पीछे मुड़ कर देखा तो उसका मुन्ना पास खड़ा था जो स्कूल से आ गया था और अब उससे झिपट गया।

अभिनय

बलवन्त जब दफ्तर से लौटा तो शोभा घर में नहीं थी। बच्चे भी स्कूल से आ गये थे। "शायद यहीं कहीं होगी या अड़ोस-पड़ोस में गई होगी," यह सोचकर बलवन्त ने शोभा के विषय में बच्चों से कुछ नहीं पूछा। लेकिन जब आधा घंटा बीत गया तो उसने अपनी लड़की से पूछा "शोभा कहां है?"

"मम्मी ड्रामें को रिहर्सल करने गई हैं," लड़की ने ऐसे गर्व से उत्तर दिया जैसे शोभा किसी बहुत बड़ी मुहिम पर गई हो।

"रिहर्सल!" बलवन्त ने दांत पीस लिए। फिर उसने स्वयं ही चाय बनाई और बच्चों को भी दी। फिर वह बाज़ार से सब्ज़ी लाने को निकल गया।

जब वह वापिस आया तो शोभा भी आ चुकी थी। "आप तो जहां जाते हैं वहीं बैठ जाते हैं। कब की मैं इन्तज़ार कर रही हूं सब्ज़ी आये और बनाऊं।"

बलवन्त को शोभा से यह आशा नहीं थी इस लिए उसका

ग़ुस्सा और तेज़ हो गया, 'अच्छा, उल्टा चोर कोतवाल को डांटे। तुम पहले बताओ कि फ़ुर्सत मिल गई तुम्हें रिहर्सल से ?"

"आपको तो मेरी रिहर्सल ही खटकती रहती है। मैं तो कब की आई हूं, पूछ लो बच्चों से।"

"बच्चों से क्या पूछूं, तुम सारे दिन में सब्ज़ी भी लाकर नहीं रख सकती !"

"मैं कौन सी यहां बेकार बैठी रही हूं, मैं भी तो दोपहर की गई अब आई हूं। सारा दिन बोल-बोल के सिर खाली हो गया।"

"कौन तुम्हें मजबूर करता है कि चार-चार दिन जाकर मग़ज़ पच्ची करो सिर्फ़ पन्द्रह रुपये के लिये।"

"आप १५ रु० की बात करते हैं मैं तो मुफ़्त तक काम करने को तैयार हूं। आप नहीं जानते जब नाटक प्रसारित होता तो उसे सभी सुनते हैं।"

"तो इस से कौन से चार चान्द लग जाते हैं ?"

"आप तो बात को समझते ही नहीं। आपका रेडियो तो क्या कभी अख़बार में भी एक बार नाम नहीं आया। रेडियो-नाटक में काम करने से कितनी पब्लिसिटी मिलती है—यह आप क्यों नहीं सोचते ?"

"तो चाटो इस पब्लिसिटी को लेकर।"

"आपने मुझे कौन-सा सुख दिया है जो यों गर्ज रहे हो। हज़ार-दो हज़ार कमाते होते तो मुझे क्या ज़रूरत थी दिन भर वहां खाक छानने की। तीन सौ रुपये में तो घर का राशनपानी ही नहीं पूरा होता। पिछले छः मीहने से कोई कपड़ा नहीं लिया। चार पैसे मैं भी कमा कर न लाऊं तो हर महीने कर्ज़ लेकर गुज़ारा करना पड़े।"

"अभी तो तुम पब्लिसिटी और मुफ़्त काम करने की बात कर रही थी और अब गुज़ारे की कहां से सूझी? जो लोग तीन सौ से कम पाते हैं, वे भी तो गुज़ारा करते हैं और उनके भी बच्चे हैं।"

"तो क्या अगर चार पैसे कमाने का मौक़ा मिले तो उसे छोड़ देना चाहिए?"

बलवन्त ने इससे आगे कोई उत्तर नहीं दिया और दूसरे कमरे में चला गया। यह सच है कि उसका गुज़ारा मुश्किल से होता था। घर में कोई न कोई चीज़ खत्म हुई रहती थी।

लेकिन उसे घर का बोझ इतना भारी नहीं लगता था जितना शोभा का स्वभाव अखरता था। वह देख रहा था कि शोभा के स्वभाव में दिन प्रतिदिन चिड़चिड़ापन आ रहा था। दिन भर वह दफ़्तर की फ़ायलों के ढेर में दबा रहता। शाम को जब घर आता तो शोभा की फ़रमाईशें उसका नाक में दम कर देतीं। रोज़ किसी-न-किसी बात पर घर में 'तू-तू-मैं-मैं" लगी रहती। बच्चे अलग सहमे-से रहते।

बलवन्त सोचता है कि शादी के बाद शोभा की ज़ुबान में कितनी मिठास थी। लेकिन न जाने घर के राशन के साथ-साथ

इसकी ज़ुबान की मिठास कहां खत्म हो गई। वह हर कष्ट सह सकता था—हर तंगी सहार सकता था लेकिन शोभा का रूखा व्यवहार उसके लिये असह्य होता जा रहा था। "क्या पैसा ही सब कुछ है" वह सोचता।

"घर की तंगियों ने शोभा के हृदय को बंजर भूमि की भांति बना दिया है, जहां कभी प्यार के फूल उगते थे। अब वह शायद घर की आवश्यक वस्तुओं से ही प्यार करने लगी है—या फिर पब्लिसिटी से।"

दफ़्तर से घर लौटने पर यदि शोभा बलवन्त से दो शब्द प्यार और सहानुभूति के कह देती तो बलवन्त की दिन भर की थकावट उतर सकती थी—उसकी खाने के लिये भूख मिट सकती थी—लेकिन शोभा को भी अपना क्षोभ और मन की भड़ास निकालने के लिये बलवन्त ही एक निशाना मिला था।

दूसरे दिन जब बलवन्त दफ़्तर से लौटा तो शोभा फिर अभी तक नहीं आई थी। चाय पीकर वह दफ़्तर के किसी काम में लग गया जो कि वह साथ लेकर आया था। कब छः बजे फि सात और फिर आठ—उसे कुछ पता हा नहीं लगा। कोई साढ़े आठ बजे बाहर कि ी गाड़ी की आवाज़ ने उसे अपने ध्यान से चौंका दिया। इतनी देर में शोभा अन्दर आ गई और स्वयं ही अपनी सफ़ाई पेश करने लगी :—

"आज फ़ाइनिल रिकार्डिंग थी, रिकार्डिंग करने में बहुत देर हो गई। पहले बिजली बन्द रही और फिर टेप-रिकार्डर खराब हो गया अब स्टेशन की गाड़ी छोड़ कर गई है।"

"आज ही नाटक प्रसारित होना है इस लिए रिकार्डिंग हर हालत में होनी चाहिए थी। बड़ी अच्छी रिकार्डिंग हुई है। अभी साढ़े नौ बजे सुनियेगा। मेरे रोल पर तो प्रोड्यूसर को भी हैरानी हुई कि इतना अच्छा रोल हो गया। मंजू कहती थी वह रोमांटिक रोल अच्छा कर सकती है। आज जब वह यह नाटक सुनेगी तो होश उड़ जाएंगे।"

शोभा एक ही सांस में यह सब कुछ कह गई। बलवन्त मन्त्र-मुग्ध होकर उसकी ओर देखता रहा कि आज शोभा में कितना उत्साह झलक रहा है—उसके पांव ज़मीन पर नहीं टिक रहे थे।

"तुम थक गई होगी," बलवन्त ने सहानुभूति और प्यार के भाव से कहा, "मैं तुम्हारे लिए चाय बनाता हूं।"

वास्तव में यही शब्द शोभा से सुनने के लिए कई अरसे से बलवन्त का मन तरस रहा था। शोभा ने तो कभी ऐसे कहा नहीं, इस लिए आज बलवन्त ने ही उसे ये शब्द कहे ताकि शायद शोभा इन शब्दों के महत्व को अब समझ सके।

लेकिन शोभा इस समय किसी और ही लय में मग्न थी। उसने कहा, "चाय तो वहीं पी ली थी। जल्दी से खाना बना लूं फिर नाटक भी सुनना है।"

और साढ़े नौ बजे से पहले खाना तैयार हो गया। आज शोभा ने किसी चीज़ की शिकायत नहीं की और न ही उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन था।

साढ़े नौ बजे सभी नाटक सुनने के लिए बैठ गये। शोभा के

संवाद शुरू हुए—"राकेश, तुम्हें देख कर मैं सब कुछ भूल जाती हूं—ये खूबसूरत वादियां वे कलकल करते झरने और उन पक्षियों के राग—सब कुछ मैं भूल जाती हूं—बस ऐसा लगता है मेरे मन में, मेरी सोच में और मेरे रोम-रोम में तुम ही बसे हो, राकेश केवल तुम... तुम ही ....."

शोभा बड़े ध्यान से अपने संवाद सुन रही है, बलवन्त भी सुन रहा है। यहां शोभा की आवाज़ बलवन्त को कितनी अच्छी लगती है। वह कुछ देर के लिए नाटक की बात भूल जाता है और राकेश के स्थान पर स्वयं को अनुभव करता है। शोभा के शब्द उसके कानों में गूंजने लगते हैं—"जानते हो जब तुम नहीं होते तो इन वादियों में, इन झरनों में और उन फूलों में मैं तुम्हें ढूंढ़ती हूँ। मेरी पलकें दूर तक तुम्हारी राह में बिछी रहती हैं और मेरे कान तुम्हारी आवाज़ सुनने को बेताब रहते हैं।"

"अच्छा।"

"हां।"

"तो चलो हम इस दुनियां से कहीं दूर चलें।"

शोभा खिलखिला कर हंस पड़ी। "दुनियां से दूर नहीं राकेश, इस शहर से, इस वातावरण से दूर भाग चलें।"

बलवन्त टिकटिकी लगाए शोभा की ओर देखता है—क्या यह वही चेहरा है जिसकी हंसी की आवाज़ अभी कानों में पड़ी है—क्या यह वही मुख है जहां से अभी फूल झड़ते सुनाई दिए ! इस समय बलवन्त को शोभा कितनी अच्छी लगने लगी—वह शोभा नहीं जो

उसके पास बैठी थी, बल्कि वह शोभा जो रेडियो में बोल रही थी। लेकिन रेडियो वाली शोभा उसके लिए इतनी ही पराई थी जितनी दूसरे श्रोताओं के लिए। उसने शोभा का हाथ अपनी मुट्ठी में दबा लिया, "शोभा सचमुच तुमने बहुत अच्छा आभनय किया है।"

"सच !"

"सच कह रहा हूँ, तुम्हारा अभिनय मुझे बहुत अच्छा लगा।"

इतने में नाटक समाप्त हो गया और कलाकारों की सूची में पहला नाम—"शोभा अग्निहोत्री" का बोला गया। शोभा की प्रसन्नता का इस समय कोई ठिकाना नहीं था।

बलवन्त ने चाहा कि वह शोभा से पूछे कि उसने एक बार भी ऐसे प्यार से मेरे साथ बात नहीं की—लेकिन वह शोभा की प्रसन्नता और कामयाबी में बिघ्न नहीं डालना चाहता था। वह उसी प्रशंसक-भाव से बोला, "शोभा तुम इतनी रोमांटिक भी हो सकती हो—यह मैंने कभी सोचा ही नहीं।"

"यह तो महज़ अभिनय था। जैसा रोल हो वैसा ही अभिनय करना पड़ता है।"

"लेकिन तुमने यह अभिनय कभी घर में नहीं किया, मेरा मतलब कभी यहां रिहर्सल नहीं की।" बलवन्त के मुंह से सच्ची बात निकलते-निकलते रुक गई। उसके मन में आया कि वह शोभा से कह डाले, "जब तुम इतना अच्छा अभिनय कर सकती हो तो अभिनय के ही नाते मुझ से प्यार नहीं कर सकती ? मेरे साथ प्यार की बातें नहीं कर सकती ! उस चचलता, उस नाज़ और अदा और उस

हंसी का प्रदर्शन मेरे सामने नहीं कर सकती ?' लेकिन कुछ नहीं कहा और बात का रुख दूसरी ओर मोड़ दिया, "शोभा रिहर्सल करते समय ये सारे संवाद तुम्हें बार बार बोलने पड़ते होंगे ?"

"हां।"

"तो अब की बार तुम्हारो रिहर्सल देखने तुम्हारे साथ मैं भी चलूंगा।"

दीपक और बत्तियाँ

विजय जब शाम को दफ़्तर से लौटा तो श्यामा अभी तक तैयार नहीं हुई थी। यह देख कर विजय का पारा तेज़ हो गया। एक तो दिन भर दफ़्तर में परेशानी और ऊपर से श्यामा का अभी तक तैयार न होना, जलती पर तेल के समान था। आते ही वह श्यामा पर बरस पड़ा, "न जाने तुम दिन भर क्या करती रहती हो कि अभी तक तैयार भी नहीं हो पाई और तुम अच्छी तरह जानती हो कि पार्टी का समय छः बजे है।" श्यामा बोली कुछ नहीं, बस तिरछी नज़र से देखा और मुन्नी को उठा कर गोद में ले लिया। इस पर विजय को और ताव आ गया, "मैं तुम्हीं से भौंक रहा हूँ, सुना नहीं तुमने मैंने क्या कहा? दिन-भर मुहल्ले में जा कर ज़रा चौकड़ी कम जमानी थी न, गप्पें हांकने को तुम स्त्रियों को खूब समय मिल जाता है और काम करने को नहीं।"

अब श्यामा से भी न रहा गया और वह बोली, 'पहले कारण भी पूछा कि क्यों नहीं तैयार हुई, यों लगे हो अपने दिल के ग़ुबार निकालने। आपको यह तो चिन्ता रहती है कि मैं आपके साथ पार्टियों

में नहीं जाती, घूमने नहीं जाती या सिनेमा नहीं जाती, लेकिन अपने बच्चों का भी कुछ ख़्याल है ?" सौ सुनार की और एक लोहार की, बात के अनुसार विजय ने एक दम अप्राधी सा मुंह बना कर श्यामा की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

श्यामा ने वह प्रश्न पढ़ लिया और उसके समीप आकर बोली, "रवि का पेट ठीक नहीं हुआ और इधर मुन्नी को बुखार हो गया है। अभी थोड़ी देर पहले देखा था, 102 था। क्या ऐसी हालत में मैं आपके साथ जा सकती हूँ ? आप अकेले चले जाएं या कमल को साथ ले जाएं, और हां आते समय डाक्टर से इनके लिए दवाई भी लेते आना।"

विजय को रवि के पेट की खराबी का ज्ञान तो था लेकिन मुन्नी के बुखार का अब पता चला। अपने कटु शब्दों पर स्वयं को मन-ही-मन धिक्कारते हुए उसने कहा, "अच्छा मैं दवा ले आता हूँ, पार्टी में जाना कोई ज़रूरी तो नहीं।"

"नहीं नहीं, आप ज़रूर हो आएं नहीं तो आंटी नाराज़ होंगी कि मेरे इकलौते बेटे का जन्म दिन था और आप आए नहीं।"

"वह तो ठीक है श्यामा, पर पहले अपने बच्चों को भी देखना है न। और फिर तुम जानती हो कि आंटी हमेशा कहा करती है, 'जब भी आया करो दोनों साथ आया करो, तुम्हें एक साथ देख कर मेरा मन गदगद हो जाता है।'"

श्यामा ने कहा, "यह तो अच्छा नहीं लगता, और फिर बच्चों को पीछे भी नहीं छोड़ा जा सकता। एक बच्चे को साथ ले जाने में

कोई हर्ज नहीं लेकिन तीनों को साथ ले जाना अच्छा नहीं लगता।"

"अच्छा भई, आपके भाषण से हम प्रभावित हुए," विजय ने व्यंग कसा, "लेकिन एक बात बताओ ?"

'क्या ?" श्यामा ने विजय के कन्धे पर हाथ रखकर पूछा।

"मुझ से नाराज़ तो नहीं हो न ?"

"नाराज़ ! तुम से ? किस बात पर ?"

"मैंने तुम्हें जली कटी "

"ओ" और श्यामा ठहाका मार कर हंस दी तथा दूसरी ओर जाने लगी तो विजय ने उसका पीछे से पल्लू पकड़ कर फिर अपनी ओर खींच लिया। मुन्नी के गालों को सहलाते हुए बोला, "मां न हो तो बच्चों का क्या बने ? माँ ही बच्चों को जीवन देती है। दीपक की बत्तियों की भांति बच्चे मां रूपी दीपक से इन्धन प्राप्त करते हैं।"

"लेकिन आपको तो आपकी माँ ने नहीं पाला था," श्यामा ने फिर परिहास किया।

"हां मां ने नहीं पाला तभी तो मां के प्यार से, लाड़-दुलार से वंचित रहा। मुझे वह स्नेह नहीं मिला जो तुम इन बच्चों पर लुटाती हो। तुम एक दीपक हो और उसमें पड़ी यह बत्तियां प्रकाशमान् हैं।

"और इस दीपक में अब जो एक और बती आने वाली है वह?" श्यामा ने ठोड़ी ऊंची उठा कर विजय की आंखों में झांकते हुए कहा।

विजय ने श्यामा के पल्लु को मुट्ठी में और ज़ोर से कसते हुए कहा," ओ ओ हो, वह तो मैं भुल ही गया। अच्छा ख़ैर उसकी बात छोड़ो, वह तो बाद में आएगा, लेकिन अभी तो चौथी बती मैं स्वयं भी तो हूँ। यह दीपक न हो तो मैं भो कैसे जी सकता हूं ? मुझे भी इसी दीपक से ईधन और जोवन मिलता है।"

श्यामा ने अपना पल्लू छुड़ा लिय और विजय को कन्धे से पकड़ कर उठाते हुए बोली," अच्छा-अच्छा, छोड़िए अब यह मजनू वाला अभिनय और जल्दी तैयार हो कर जाइए"

इसी प्रकार हास परिहास में विजय और श्यामा की जीवन-गाड़ी सन्तुलित गति से आगे बढ़ती गई। घर की चिन्ताओं को अथवा कभी-कभी के आर्थिक संकटों को वे यों ही हास-परिहास में घोल कर पी जाते। केवल एक ही बात थी जो विजय को बहुत खटकती थी और वह थी श्यामा का अधिकतर घर में ही रहना और विजय के साथ कहीं न जाना। वह बार-बार उन दिनों को याद करता जब वे इकट्ठे घर से निकलते थे। किसी के घर जाना, घूमने जाना, कहीं मनोरंजन को जाना, या किसी रिश्तेदार के एास जाना हो तो इकट्ठे ही जाया करते थे। लेकिन अब बच्चों के कारण विजय और श्यामा का यह साथ छुट गया था।

और फिर वह दिन भी आया जब चौथे महिमान के स्वागत के लिये श्यामा को हस्पताल दाख़िल करवाना पड़ा। घर से चलते समय विजय ने कहा,"चौथी बत्ती के जलने से चारों दिशाओं में प्रकाश फैल जाएगा, है न श्यामा ? हम चारों दिशाएं घेर लेंगे······ और फिर हिसाब भी ठोक रहेगा, दो बत्तिया तुम्हारी, दो मेरी······

दो दिशाएं मेरी – पूर्व और पश्चिम उत्तर और दक्षिण तुम्हारी। फिर तो ताश के खिलाड़ियों को भांति दो दलों में खूब मुकाबिला होगा।"

"और हम दोनों रैफरी होंगे।" श्यामा ने बीच में बात काट दी।

लेकिन जब हस्पताल में दाखिल होने के तीसरे दिन डिलिवरी का समय आया तो केसे सीरियस बन गया और ओपरेशन के लिये जब विजय से हस्ताक्षर करवाए गये तो उसके हाथ कांपने लगे, उसने मन ही मन स्वयं से प्रश्न किया, "हस्ताक्षर ? किसके लिए ? यह मैं जीवन के लिए हस्ताक्षर कर रहा हूं या मृत्यु के लिये ?" फिर उसने सोचा कि हस्ताक्षर तो वह पहले से ही कर चुका था जब कि श्यामा का पांव भारी हुआ। अब क्या हो सकता था ! उसने कांपते हाथ और धड़कते दिल से हस्ताक्षर कर दिए। इसके बाद उसके मन की बेचैनी बहुत बढ़ गई। उसके मन में कई विचार उठने लगे और वह इधर-उधर टहलने लगा। एक चक्कर लगाता और फिर ओपरेशन थीयेटर के दरवाज़े की ओर देखता और फिर चक्कर लगाने लगता। उसका बड़ा लड़का कमल मुन्नी को लेकर बैठा था और रवि कमल से बातें कर रहा था।

विजय ने सबको एक-एक करके ध्यान से देखा —उसके जीवन पर, भविष्य पर संक्षिप्त सी दृष्टि डाली और उसके मन की व्याकुलता और बढ़ गई। श्यामा के साथ बीती एक-एक बात आंखों के आगे से गुज़रने लगी। वह एक स्वप्न तो नहीं बन जाएगा। नहीं ! नहीं !! श्यामा जो जीवन और मृत्यु के किनारे पर खड़ी थी—

जीवन और मौत में केवल एक पल का अन्तर था—और विजय उस पल के आगे स्वयं खड़ा हो जाना चहता था। उसने न जाने कितनी ही मन में प्रतिज्ञाएं की, स्वयं को कितनी बार कोसा ... लेकिन भविष्य का भय और आशंका उस पर टूट पड़े। वह बरामदे में ही घबरा कर गिर पड़ा।

हस्पताल के कर्मचारियों ने उसे बेंच पर लिटाया। डाक्टर ने इन्जैकशन लगाया, नर्स ने उस पर पानी के छींटे मारे। थोड़ी देर के बाद जब वह होश में आया तो उसके मुंह से ज़ोर की चीख़ निकली, "श्यामा !"

पास खड़ी नर्स ने कहा, "घबराइए नहीं वे बिलकुल ठीक हैं।"

पराजय

ग्रीन होटल के एक कमरे में अजीत बैठा हुआ बार-बार घड़ी की ओर देख रहा था। कभी-कभी वह उठ कर टहलने लगता और कभी खिड़की के पास, पर्दा एक ओर हटा कर, सड़क की ओर देखता। आज प्रभा ने उसे मिलने का वायदा किया था। चाहे प्रभा ने दो बजे दोपहर का समय दिया था, परन्तु अजीत डेढ़ बजे ही आकर बैठ गया। वह घड़ी की ओर बार-बार देख रहा था कि कब दो बजें, परन्तु घड़ी की सूई थी कि बहुत मचल-मचल कर चल रही थी। वह सोच रहा था कि यदि संसार के समय की चाबी उसके हाथ दे दो जाए तो वह चाबी को घुमा कर सारी घड़ियों को दो पर कर दे। ओह ! प्रतीक्षा के पल भी कितने लम्बे होते हैं।

अजीत और प्रभा बचपन से ही एक दूसरे को जानते थे और कॉलेज में भी दो वर्ष तक एक साथ रहे, इसके बाद अजीत इन्जिनीयरिंग कॉलेज में दाखिल हो गया और दोनों का साथ छूट गया।

इन्हीं छः वर्षों के दौरान प्रभा एक सफल गायिका बन गई और आज वह आकाशवाणी की मुख्य गायिकाओं में से एक थी।

उसको नृत्य में भी पर्याप्त नि:पुणता प्राप्त थी, परन्तु उसके स्वर में अधिक जादू था। वह कई लोक-नाचों में तथा नाटकों के अभिनय में भाग लेती, परन्तु अधिक ख्याति उसे गायिका के रूप में ही मिली थी। रेडियो सुनने वाले प्राय: सभी उसके नाम से परिचित थे।

छः मास पूर्व जब अजीत अपना कोर्स पूरा कर के आया तो एक दिन उसकी प्रभा से एक संगीत-सभा में भेंट हुई। प्रभा की स्वर-लहरी अजीत को अपने वेग में बहा कर ले गई और वह प्रभा के साथ अपने जीवन के ताने-बाने बुनने लगा। उस ने प्रभा की प्रशंसा में कुछ शब्द बधाई-रूप में प्रस्तुत किये. प्रभा ने अपनी मुस्कान बिखेरते हुए अजीत का धन्यवाद किया।

अब प्रभा बहुत बदल चुकी थी। कॉलेज के दिनों में अजीत को प्रभा से कोई विशेष रुचि नहीं थी, क्योंकि प्रभा में कोई ऐसी कशश नहीं थी जो अजीत को अपनी ओर खींच लेती और अभी यौवन का भी पूर्ण विकास नहीं हुआ था। ज्यों-ज्यों प्रभा ने यौवन में पांव रखा, उसमें कशश बढ़ती गई और वह प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि का केन्द्र बनने लगी।

इस भेंट के बाद अजीत ने प्रभा को पत्र लिखने शुरू कर दिये। उन पत्रों में पहले प्रभा की स्तुति के सिवा कुछ न होता था। प्रभा ने धन्यवाद रूप में एक-दो पत्रों का उत्तर भी दिया। परन्तु जैसे ही अजीत के पत्रों का ढंग कुछ बदला—उसने अपनी अन्तर्भावना को प्रकट करना शुरू किया—प्रभा खामोश हो गई। फिर अजीत ने कई पत्र लिखे परन्तु कोई उत्तर न मिला। वह प्रभा से कोई बहुत दूर नहीं था, चाहता तो उसे स्वयं जा कर मिल सकता था, परन्तु

उसे यह भय था कि वह प्रभा के सामने अपने दिल की बात कैसे कह सकेगा। इस लिए उसने पत्रों को ही अपनी भावना प्रकट करने का साधन बनाया।

एक दिन, अचानक ही उसे प्रभा का एक पत्र आया कि वह उससे ग्रीन होटल में बुद्धवार को दो बजे दोपहर को मिलना चाहती है। इस अकस्मात पत्र एवं परिवर्तन ने पता नहीं अजीत के मन में किन-किन विचारों और कल्पनाओं को जन्म दिया। वह चकित था कि आखिर प्रभा ने उसे बुला कैसे लिया। कभी वह ख़ुशी के मारे फूला न समाता और कभी किसी भावी शंका को सोचकर चिंतित हो जाता। उसने बड़ी उत्सुकता से इस दिन की प्रतीक्षा की और विशेषत: आज उसने आधा दिन बड़ी व्याकुलता से काटा।

उसने घड़ी पर देखा दो बज कर दस मिनट हो चुके थे। वह कुछ निराश सा होने लगा कि क्या प्रभा नहीं आएगी! परन्तु उसी ने तो निमन्त्रित किया और वह स्वयं कैसे अनुपस्थित हो सकती है! कभी वह सोचता कि कहीं उसके साथ मज़ाक तो नहीं किया गया। वह कुर्सी पर बैठ कर मेज़ पर पड़ी अखबार को उलट-पलट कर देखने लगा। अख़बार तो उसने प्रात: ही पढ़ लिया था अब उस में क्या रुचि थी?

ठीक सवा दो बजे प्रभा आई। कमरे में प्रवेश करते ही बोली, "क्षमा करना 15 मिनट लेट हो गई।"

"यह भी शुक्र है कि आप आ गईं, नहीं तो मुझे यह भी शंका थी। कलाकारों को प्राय: अवकाश कम ही मिलता है।" अजीत ने

कुछ व्यंग्यमय ढंग से कहा। "पहले यह बताइए कि क्या पीएंगी, चाय, कॉफ़ी या शर्बत ?"

"अभी किसी चीज़ की इच्छा नहीं, धन्यवाद।"

"यह कैसे हो सकता है ! दोपहर का समय है, प्यास तो लगी होगी।" अजीत ने वेटर को औरेंज की दो बोतलों का आर्डर दे ही दिया।

"अजीत तुम शायद हैरान होगे कि मैंने तुम्हें क्यों बुलाया ?" प्रभा ने बात शुरू करते हुए कहा।

"मेरे लिए इस से सौभाग्य का और कौनसा समय हो सकता है कि एक सुविख्यात कलाकार मुझे भेंट का सुअवसर प्रदान करे।"

"देखो अजीत, मैं तुम्हारी भावना का सम्मान करती हूं कि तुम मेरी कला का सम्मान करते हो, परन्तु तुमने मुझे ग़लत समझने की कोशिश की है।" अजीत को झटका सा अनुभव हुआ जैसे कभी बिजली का करंट लगने से सारी नसें खिंच जाती हैं।

"क्या भूल की मैंने ?" अजीत ने प्रभा को चकित नज़रों से देखते हुए पूछा।"

"मैं नहीं कह सकती कि भूल है या ग़लत अनुमान, परन्तु मैं आज सिर्फ यह बताने आई हूँ कि तुमने मुझे ग़लत समझा है।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि तुम्हारे पहले पत्रों में जो कला के प्रति रुचि थी, उसका मैं सम्मान करती हूं और प्रत्येक—जो भी मेरी कला को

पसंद करता है—का सम्मान करती हूँ। इसी सम्मान रूप में मैंने शायद तुम्हें एक-दो पत्र लिखे, जिनका तुमने ग़लत अनुमान लगा लिया। यह ठीक है कि हमारा परिचय बहुत पुराना है, परन्तु इस परिचय को तुमने मैत्री के विस्तृत क्षेत्र से उठा कर एक तंग दायरे में बन्द करने का प्रयत्न किया है।"

"क्या प्रेम तंग दिली या तंग दायरा है ? यह क्या कह रही हो तुम ?"

"प्रेम मेरे लिए तंग दायरा नहीं परन्तु मेरी कला के लिए तंग दायरा है और मैं अपनी कला को स्वच्छन्द विचरने देना चाहती हूँ, उसका विकास चाहती हूँ।"

"मैंने इसमें कब आपत्ति की ?"

"तुमने आपत्ति तो नहीं की परन्तु उसकी पृष्ठभूमि तो तैयार कर रहे हो।"

"प्रभा जानती हो तुम्हारा एक-एक शब्द मुझ पर कैसे आघात् कर रहा है ? मैं तुम्हें कैसे बताऊं कि मैंने तुम्हें अपने हृदय में कितना उच्च स्थान दिया है, मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ ?"

"यह ग़लत है कि तुम मुझे चाहते हो या मुझे स्थान दिया।"

"क्या कहा ?"

"हां ! क्या तुम मुझे चाहते हो ?"

'तुम्हें विश्वास नहीं ?"

"ज़रा सोच कर सच्चे दिल से बताओ।"

"यदि तुम मेरा दिल चीर कर देख सको !"

"दिल चीरने की कोई ज़रूरत नहीं। क्या यह सच नहीं कि तुम मुझे नहीं अपितु मेरी कला को चाहते हो, उस से प्रेम करते हो ? जिसका मैं केवल एक साधन हूँ।"

"कला तुम से पृथक तो नहीं है।"

"कला एक स्वछन्द एवं असीम वस्तु है, उसे बन्धन में डाल कर मैं सीमित नहीं करना चाहती ?"

"मैं कब कहता हूँ उसे बन्धन में डालो या सीमा मे बान्ध दो।"

"जब तुम मुझे सीमा में बान्ध दोगे तो मेरी कला स्वयं ही सीमित हो जाएगी। मेरी कला का प्रत्येक स्थान पर प्रदर्शन तुम्हें कैसे गंवारा होगा ?"

'मैं तुम्हारी कला के विकास में वाधा बन कर तो नहीं खड़ा हूंगा।"

"यह सब कहने की बातें हैं अजीत, मैं जानती हूँ तुम्हें यह नहीं अच्छा लगेगा कि मैं दूसरों के साथ नाचूं, गाऊं। मैं कला के लिए अपनासुख-चैन और जीवन तक सब कुछ न्योछावर कर दूंगी। परन्तु उसकी साधना में कमी नहीं होने देना चाहती। मेरी साधना अभी बहुत अधूरी है और मैं जानती हूँ कि विवाह के बन्धन में पड़कर—जैसा कि तुम चाहते हो—मैं स्वेच्छा से साधना नहीं कर सकती। हम यों भी एक-दूसरे से मिल सकते हैं, हमारी मित्रता बनी रह सकती है, जिस परिणय में तुम मुझे पिरोना चाहते हो, मैं उस में

परिणित नहीं होना चाहती।"

"आखिर कभी तो होगी!"

"मैं कोई ज़रूरी नहीं समझती। जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूँ कि यदि मुझे जीवन तक न्योछावर करना पड़े तो करूंगी "

"प्रभा! तुम कलाकार हो। और कलाकार इतने कठोर नहीं हुआ करते।"

"जब साधना करने का व्रत धारण कर लिया है तो कठोर तो होना ही पड़ेगा। कभी-कभी कठोरता को भी साधना समझना पड़ता है और कलाकार समय आने पर उसे भी अपना लेता है। जब किसी मन्ज़िल पर पहुँचने का निश्चय कर लिया जाता है तो रास्ते की सभी बाधाओं को और माया-जाल को पराजित करना पड़ता है।"

'प्रभा तुम मेरे जज़बातों और दिल से खेल रही हो।"

"अजीत ताली दोनों हाथों से बजती है यदि तुम 'आ बैल मुझे मार' वाली बात करो तो इसमें मेरा क्या दोष है? तुम नहीं जानते कि कलाकार को कितना पत्थर-दिल होना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका व्रत एक ही दिन में भंग हो जाय। यदि मैं अपना हृदय न पत्थर करूं तो मैं एक सीमित दायरे में चली जाऊं, और वहां जाने पर शायद मेरी कला का दम घोंट दिया जाय। कलाकार अपने प्रत्येक प्रशंसक का सम्मान करता है। परन्तु कई बार प्रशंसकों का ग़लत अनुमान उनका कलाकार से सम्पर्क तोड़ देता है। प्रत्येक व्यक्ति जिस भी अच्छी चीज़ को देखता है, तो उसे केवल अपनी बनाना चाहता है जो उसे संकुचित बना देता है।

"एक दिन मुझे कोई जानता तक न था। आज मुझे कितने लोग जानते हैं, यह मैं नहीं जानती और न ही अनुमान लगा सकती हूं। आज मुझे इतने अधिक लोग क्यों जानते हैं? केवल मेरी कला के कारण। आखिर कला ने ही मेरे व्यक्तित्व को ऊपर उठाया। जिस कला ने मुझे इतना ऊपर उठाया, मैं क्यों न उसके लिए अर्चना करूं और उसका विकास करूं?"

"प्रभा तुम एक ऐसी पवित्र प्रथा का अपमान कर रही हो जिसके आधार पर संसार का कार्य-व्यवहार टिका है और उसका विकास होता है।"

"मैं इस प्रथा का विरोध तो नहीं करती, केवल मैं इस बन्धन में बन्धना नहीं चाहती।"

"जीवन के उस पवित्र नाते को तुम बन्धन कहती हो। वह बन्धन नहीं अपितु जीवन का सच्चा एवं सुरक्षित मार्ग है। तुम यह क्यों भूल गई कि जीवन-रथ को चलाने के लिए दो पहियों की ज़रूरत पड़ती है। एक पहिये से यह गाड़ी नहीं चलती और जब दो व्यक्तित्व मिलते हैं तो एक-दूसरे व्यक्तित्व पर नया रंग चढ़ता है। उनमें और भी उज्ज्वलता आ जाती है क्योंकि एक एक और दो ग्यारह होते हैं।"

"अजीत तुम समझते क्यों नहीं कि मैं साधिका हूँ। मैं एकाकी रहना चाहती हूँ।"

"आखिर कब तक?"

"जब तक मैं पूर्ण सफ़लता नहीं प्राप्त कर लेती।"

"आज तक पूर्णता को कोई नहीं पा सका प्रभा। वह सीमा बहुत दूर है। तुम्हें तानसेन की मिसाल याद होगी, जब उससे किसी ने पूछा कि तुम कितना संगीत जानते हो, तो उन्हों ने बहते हुए पानी से एक बून्द उठा कर कहा था, "संगीत-समुद्र से अभी एक बून्द मैंने प्राप्त की है।" सो पूर्णता को प्राप्त करना बहुत कठिन है। व्यक्ति सारी आयु विद्यार्थी रहता है, साधक रहता है। नित्य नई बात एवं नया अनुभव सीखता है। एक इच्छा पूर्ण होने पर या किसी सीमा पर पहुँचने पर वह आगे बढ़ना चाहता है। फिर और आगे, और इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। मैं तुम्हारे लिए प्रतीक्षा कर सकता हूँ।"

"अजीत मैं विवश हूं। भविष्य के विषय में मैं कुछ कह नहीं सकती। अभी कुछ नहीं बिगड़ा, तुम पीछे लौट जाओ। अपना नया मार्ग बनाने का प्रयत्न करो, भूल जाओ मुझे, बिल्कुल भूल जाओ कि मैं कोई वस्तु हूँ।

"अच्छा अजीत, इस कष्ट के लिए क्षमा, जो तुम्हें यहां आकर उठाना पड़ा। अब काफ़ी समय हो गया है मैं चलती हूँ।" इतना कहने पर प्रभा उठ कर चली गई।

अजीत स्तब्ध बैठा ही रह गया। वह पराजय के कांटों में विजय का कोई एक-आध बचा फूल ढूंढ़ने लगा।

सूनी-सूनी हर जगह

आज झील का जल कितना निर्मल और नीला है, बिल्कुल तुम्हारी आंखों की नीलाहट जैसा—कितनी गहरी है यह झील—लेकिन तुम्हारे नयनों की गहराई इससे भी कहीं अधिक है। मैं इस झील की सतह तक गोता लगा सकता हूँ, और बिना गोता लगाए भी नीचे की सतह का अनुमान लगा सकता हूं—लेकिन तुम्हारे नयनों की गहराई तक पहुंचना तो एक ओर रहा, उसका अनुमान भी नहीं लगा सकता। देख रही हो न झील में लहरें कैसे मचल रही हैं। बस ऐसे ही मेरे मन में भाव मचला करते हैं। यहां देखा, पानी कैसे अचल है—कोई लहर उठती नहीं दिखाई देती—लेकिन यह मेरे कंकर फेंकने से लहरों में हलचल पैदा हो गई—ऐसे ही मेरा मन भी पहले शान्त था, लेकिन तुम्हारे आते ही इसमें भावों की हलचल पैदा हो गई। झील के किनारे देख रही हो न वृक्ष किस प्रकार झुके हैं। तुम्हारी कमर भी यों ही झुकती है।

आहा ! यहां नौका-विहार करने में कितना आनन्द आता है। यहां बीच में बैठे ऐसा लग रहा है कि नौका खड़ी है और पृथ्वी

हमारे पास से होकर गुज़र रही है। सूर्य की किरणें चान्दी की भांति इस जल-राशि पर बरस रही हैं—वह देखो सूर्य झील में उतर आया! तुमने कभी चान्द या सूर्य को झूला-झूलते देखा है? नहीं देखा! मैं तुम्हें दिखाता हूं। नीचे पानी में सूर्य को देख रही हो न? अब देखो मेरे पानी हिलाने से सूर्य भी इधर-उधर झूलने लगा—ऐसे ही तो झूला झूलते हैं न? वह सामने देखो पेड़ की बेल नीचे पानी तक झुक आई बिल्कुल ऐसे लग रही है जैसे तुम्हारी अलक तुम्हारे माथे पर बिखर जाती है! आओ उन कुञ्जों में चलें! वहां पक्षियों का गीत सुनेंगे तुम भी गाओ गी न? तुम चुप क्यों हो? तुम मेरी बातों का उत्तर क्यों नहीं देती! तुम........!

× × × ×

देख रही हो न देओदार के वृक्ष कितने सुन्दर लगते हैं! कैसे तन कर खड़े हैं—बिल्कुल वैसे जैसे तुम कभी गुस्से में तन कर खड़ी हो जाती हो और फिर कितनी अच्छी लगती हो। यहां कितनी निःस्तब्धता है। सुनसान—एकाकीपन—यहां बस तुम हो और मैं—मैं और तुम—और ये देओदार के वृक्ष और वह दूर तक तुम्हारे आंचल की भांति फैली हुई सुन्दर वादी—और उन वादियों के ऊपर बर्फ़ से ढकी चोटियां। हां सच हमारी ही भांति स्वतन्त्र यहां पक्षी भी हैं। जी चाहता है यहीं बैठे बातें करते रहें और प्रकृति की इस गोद में बैठकर जीवन की सब चिन्ताएं भूल जाएं। यह झाड़ी देख रही हो, कितने सुन्दर फूल लगे हैं। अरे! आगे तो सारी घाटी ही ऐसे फूलों से ढकी पड़ी है! वह देखो झरना! कैसे उछल रहा है! तुम भी तो ऐसे ही नाचती हो! वह जल-प्रपात देखा! तुम्हारे आंचल की भांति उस घाटी से फहर रहा है! और यहां पानी गिरने का संगीत

तो सुनो…कितना सुहाना लग रहा है! कितना स्वच्छ और निर्मल पानी है! यहां ऐसे ही शीतल जल होता है! तुमने घाटी का केश-जाल देखा है? तुम्हारे केश काले हैं न। लेकिन धरती के केश काले नहीं होते—वस्त्रों की भांति धरती के केश भी सब्ज़ रंग के होते हैं! वह देखो हरी लंबी घास! कैसी चमकीली है! लगती है न बिल्कुल केशों जैसी। यहां पृथ्वी ने अपना कितना सुन्दर शृङ्गार किया है। यहां से नीचे देखो! कितनी गहरी खाई है! और उधर देखो! वह नीचे की घाटी में इस वादी के दामन में! वह गांवों के घरौंदो को तो देखो! यहां से वे घर कितने छोटे-छोटे लगते हैं! लेकिन वहां भी जीवन है—जीवन के सपने हैं…प्यार है—स्नेह और ममता है वहां भी दुःख-सुख है। उन घरौंदों में भी जवान दिल धड़कते हैं वहां भी प्यार के गीतों के स्वर गूंजते हैं…वहां भी मुस्कान झड़ती होगी… अश्रु भी गिरते होंगे और वहां भी घृणा तथा द्वेष की मलिन छाया पड़ती होगी…मानव के ये स्वभाविक गुण हैं न।

और उन घरौंदों के आस-पास छोटे-छोटे खेत कैसे लगते हैं। बिल्कुल नील-वस्त्र से लग रहे हैं। कहीं कहीं सरसों भी फूली है, जहां वसन्ती आंचल बिछा लगता है।

उधर गहन जंगल की ओर तो देखो। चलो वहां आंख-मिचौली खेलें! वहां एक-दूसरे को ढूंढ़ना बहुत कठिन होगा! चलो उस चोटी पर चढ़ें! वहां से बहुत दूर का दृश्य दिखाई देगा। तुम मेरे साथ यहां से सीधे ऊपर को चल सकती हो? तुम्हारी सांस फूलने लगेगी, तुम उतनी जल्दी मेरे साथ नहीं चल सकोगी। अच्छा मैं तुम्हें सहारा दूंगा—तुम्हारा हाथ थाम लूंगा—और जहां तुम्हारा पांव फिसलने

लगा तो तुम्हें अपनी बांहों में कस लूंगा।

अहा पवन का कैसा ठंडा झोंका आया! अरे यहां तो कहीं-कहीं बर्फ़ भी है। तब तो थोड़ा ऊपर जाने पर और बर्फ़ होगी। कभी बर्फ़ पर चल कर देखा है, कितना आनन्द आता है। शुभ्र शीतल और श्वेत वर्फ़! चलो ऊपर चलें। वहां हम बर्फ़ के गोले बनाकर एक दूसरे पर फेंकेंगे, बर्फ़ पर फिसलेंगे और बर्फ़ की मूर्तियां बनाएंगे। मैं एक तुम्हारे जैसी सुन्दर मूर्ति बनाऊंगा। नहीं, तुम जैसी तो नहीं बना पाऊंगा···तुम बहुत सुन्दर हो न!

हां देखा कैसे यहां चारों ओर चान्दी-ही-चान्दी बिखरी पड़ी है! सारा पांव बर्फ़ में धंस जाता है। वह पेड़ तो देखो बर्फ़ से कैसे झुके हैं! तुम भी जब दुल्हन बनोगी तो ऐसे ही आंचल झुका कर खड़ी होगी और लाज के मारे झुकती जाओगी। तुमने कभी बर्फ़ गिरती देखी है? बिल्कुल ऐसे लगता है जैसे रुई के बारीक टुकड़े··· या फूलों की पखड़ियां बरस रही हों। जब बर्फ़ पड़ती है तो सरदी कम लगती है और कपड़े भी गीले नहीं होते। यहां ब्रफ़ की शुभ्रता में तुम्हारा रूप और भी शुभ्र लगने लगा है—तुम चान्द से भी कहीं अधिक सुन्दर लगती हो—तुम्हारे शुभ्र अंगों के स्पर्श की लालसा बढ़ती ही जा रही है। आओ यहां से लौट चलें। वहां, उस टीले पर जाकर रुकेंगे। तुम मेरे साथ आ रही हो न? मुझे तुम्हारे पांवों की आहट तो सुनाई दे रही है तुम्हारी चूड़ियों की छनकार और पायल की झनकार भी साफ़ सुनाई दे रही है—नहीं, यह मेरा भ्रम नहीं हो सकता—यह तुम्हारी आवाज़ है—तुम कुछ बोलती नहीं··· ऐसे वातावरण में चुप क्यों हो। कोई गीत गाओ—कोई ग़मी या खुशी का गीत—प्यार का गीत। तुम्हारा गीत सुनने को मेरे कान

तरस रहे हैं यह बहुत अच्छा अवसर है—इस एकाकीपन में गाओगी तो तुम्हारी आवाज़ इन वादियों में गूंज उठेगी—उन घरौंदों तक सुनाई देगी। गाओ न गाओ ! तुम गाती क्यों नहीं ? तुम किधर हो—कहा गई·· तुम तुम !

× × × ×

यहां तो कुछ समझ नहीं आती कि यह फूलों की महक है या तुम्हारी सांसों की अथवा तुम्हारे बदन की। सच पूछो तो मुझे इन फूलों का हंसना देखकर तुम्हारा हंसना याद आ जाता है। तुम भी जब हंसती हो तो इन फूलों की भांति खिल पड़ती हो और तुम्हें हंसती देखकर मेरा मन भी खिल उठता है। ये फूलों की कतारें देख कर तो मन झूम उठता है। क्योंकि हर फूल में मुझे तुम्हारा चेहरा नज़र आता है। हर फूल देखकर मुझे तुम्हारी याद आती है। पिकनिक के लिए कितनी अच्छी जगह है। जी चाहता है ऐसे ही फूलों की सेज सजी हो जिस पर हम दोनों लेट जाएं—मैं फूलों की पखड़ियां तुम्हारे मुंह पर फेंकूं और तुम्हारे केश फूलों से भर दूं। इनमें से सब से सुन्दर फूलों का गुलदस्ता तुम्हें भेंट करने को जी चाहता है या सब से सुन्दर एक फूल तुम्हारे जूड़े में सजा दूं। आओ यहां बठें—यहां छरहरी घास पर—यहां पास सुन्दर फूल भी हैं। मैं तुम्हारे खाने के लिए बहुत सी चीज़ें लाया हूं—लेकिन मैं अपने हाथ से तुम्हें खिलाऊंगा इसी बहाने मैं तुम्हारे होंठ छू सकूंगा और तुम्हारे नयनों में झांक सकूंगा। यह कोयल की पुकार सुनी ! कितनी मीठी आवाज़ है ! तुम्हारी आवाज़ इस से भी मीठी है ! आज तो यहीं दिन गुज़ार देंगे। तुम उस पेड़ के पीछे खड़ी हो तो मैं तुम्हारी तस्वीर उतार लूं। वहां उन फूलों के आगे खड़ी होकर और अच्छी तस्वीर आएगी—

या वहां उन फूलों पर लेट जाओ—नहीं, उन पत्तों में से झांक कर देखो तो बहुत ही अच्छी तस्वीर आएगी—एक पोज़ यहां घास पर लेट कर और एक पोज़ उन पेड़ों के पास। अरे! यह कौन इधर आ रहा है? तुम यहीं रहना, तुम कहीं न जाना—मेरे पास ही- कोई आता है तो आए। तुम किधर छिप गई? यह आंख-मिचोली यहां अच्छी नहीं! कहां हो तुम? इन फूलों, इन बहारों और मेरी धड़कनों की सौगंध सामने आ जाओ! तुम कहीं नहीं दीखती। तुम…!!

× × × ×

गाड़ी कितनी तेज़ी से बल खाती भागी जा रही है। देखो खेत और वृक्ष कैसे भागे जा रहे हैं। बड़ा लंबा सफ़र है -अकेले इतना सफ़र काटना कितना मुश्किल है। तुम्हारे जैसा साथी साथ हो तो यह सफ़र कितना छोटा लगने लगता है—फिर तो मन चाहता है कि यह सफ़र कभी समाप्त न हो। स्टेशनों पर कितनी भीड़ है—कोई किसी को विदा करने आया है—कोई विदा होने और कोई किसी को लेने आया है। तुम भी मुझे ऐसे ही विदा करने आती? हां मैं तुम्हें लेने ज़रूर आता। कितने शहर गुज़र गये और अभी कितने बाकी रहते हैं, कुछ खबर नहीं। खबर है तो केवल तुम्हारी। बस जी चाहता है ज़िन्दगी यों ही तुम्हारे साथ यात्रा करते कट जाए—तुम्हारे साथ पहले सारे भारत का भ्रमण करूं और फिर विश्व का। भारत के सभी प्रदेश, वहां के लोग, वहां की सभ्यता, वहां की वेश-भूषा और वहां के ऐतिहासिक स्थान देखने को जी चाहता है। जानती हो क्यों? तुम्हारे साथ यह यात्रा और सुहानी हो जाती है—और हर सुन्दर स्थान को देखकर मैं अपनी खुशी तुम्हारे साथ बांट कर मन का बोझ हलका कर लेता हूं—नहीं तो अकेले यह बोझ

उठाना मुश्किल हो जाए। हम दुःख भले ही अकेले सहार लें लेकिन खुशी अकेले नहीं सहार सकते। दुनिया की इस भीड़ में अकेले की भी क्या ज़िन्दगी है।

लो अपना स्टेशन तो आ गया, चलें उतरें। यह ख़्यालों की लड़ी भी चरम सीमा पर आते ही टूट क्यों जाती है। अरे तुम किधर गई। तुम ...!

× × × ×

देखो कितनी घोर काली घटा घिर आई! है न बिल्कुल तुम्हारे केशों जैसी! नहीं, तुम्हारे केश अधिक काले हैं! उधर मोर और पपीहे की पुकार सुनी? वे भी वर्षा का अभिनन्दन कर रहे हैं। तुम्हारे साथ होते वर्षा का आना सोने पर सोहागे समान है। ओह कितने ज़ोर की बिजली कड़की! चलो यह भी अच्छा ही हुआ यदि बिजली न गरजती तो तुम मेरे साथ डरकर यों न लिपटती। तुम्हारा डरा हुआ और सहमा हुआ चेहरा भी कितना अच्छा लगता है इसमें कितनी सादगी और भोलापन है। यह नगाड़े किधर बज रहें हैं? अरे! चारों ओर से ज़ोरदार बादल घिर आए! आज धरती की प्यास बुझेगी। वनस्पतियां लहलहा उठेंगी और आकाश में इन्द्रधनुष पड़ेगा!!

लो, बून्दा-बान्दी शुरू हो गई—शीतल, मन्द हवा चल पड़ी। यह शीतल हवा और पानी की फुहार कितनी अच्छी लग रही है। तुम्हारे काले केशों पर मोती आकर अटक गये तुम्हारे चेहरे पर भी मोती अटके हैं—तुम्हारी रेशमी अलकों पर यह वर्षा के मोती कितने सुहाते हैं। लो एक दम घनघोर घटा छा गई—अब कुछ भी

दिखाई नहीं देता। पानी भी अब ज़ोर से बरसने लगा—अरे! तुम तो बिल्कुल भीग गई हो। तुम्हारे सारे वस्त्र भीग कर बदन के साथ चिपट गये हैं····· तुम्हारे अंगों के उभार स्पष्ट दीखने लगे हैं—देखो तुम्हारे उरोज कैसे उभर आए हैं। तुम्हारे गोरे बदन का सौन्दर्य वस्त्रों से बाहर उभर आया है—तुम्हारे बदन का सारा रंग संगमरमर की भांति चमक रहा है—मुझे वह बर्फ़ की मूर्ति याद आ रही है—तुम्हारे अंगों की बनावट साफ़ देखी जा सकती है—अच्छा हुआ वर्षा आई और तुम भीग गई—तुम्हारा यह रूप भी मुझे देखने को मिला—अब बीच में वस्त्रों का पर्दा न होने के बराबर रह गया है - ओह यों भीगी हुई तुम कितनी अच्छी लगती हो। जी चाहता है तुम्हें इस रूप में देखता रहूं और बस देखता ही रहूँ।

देखो नदी-नालों में कितना पानी भर गया है। पानी की व्याकुलता देख रही हो न? कैसे भागा जा रहा है सागर से मिलने। तुझे मिलने को मेरा मन भी ऐसे ही व्याकुल रहता है और मैं भी इसी तरह भागता हूं। नदी की लहरों का कितना शोर है और किस प्रकार ताण्डव-नृत्य कर रही हैं। अब इनमें वह एक-लय और खामोशी नहीं है—ये तो सब कुछ बहा लिए जा रही हैं। इन्हें तो घंटों देखते मन नहीं थकता। जैसे तुम्हें देखते कभी मन नहीं थकता, बल्कि देखने की प्यास और बढ़ती ही जाती है। आज नदी का सीना कितना अशान्त है—मेरा मन कई बार इससे भी बढ़कर अशान्त हुआ है।

लो बारिश कुछ थम गई—हल्की बारिश में चलना कितना अच्छा लगता है····· कहीं-कहीं धुंधलका-सा छा गया है। इस धुंधलके ने तो सब कुछ ढक लिया—तुमको भी ढक लिया—किधर

हो तुम ! तुम फिर कहीं दिखाई नहीं दे रही। अभी और वर्षा होगी – मोर-पपीहे और बोलेंगे ·· ···नदी में और बाढ़ आएगी ···· काली घटाएं और छाएंगी और बादल भी गर्जेगा··· · लेकिन तुम ·········!!

× × × ×

कितनी भयानक काली रात है ! यह काली रात कभी समाप्त नहीं होगी ? नहीं ! यह रात समाप्त नहीं होनी चाहिएं क्योंकि प्रभात होते ही तुम मुझसे जुदा हो जाओगी··· मुझसे छिन जाओगी। यह रात नहीं समाप्त होनी चाहिए। बाहर बादल गरज रहे हैं ·· कभी-कभी बौछार भी पड़ती है·····बिजली कड़क रही है बहुत सर्दी है ! अपनी ही सांसों की गर्माइश से शरीर को तपश नहीं मिल रही····· व्यक्ति कभी कभी एकाकी होकर भी एकाकी नहीं होता— जैसे मैं, तुम हमेशा मेरे साथ रहती हो। लेकिन कई बार व्यक्ति भीड़ में भी स्वयं को अकेला अनुभव करता है। उस दिन सिनेमा में मैंने स्वयं को इतनी भीड़ में भी एकाकी अनुभव किया ···क्योंकि तुम मेरे साथ नहीं थी। मेरे लिए सारा हॉल ख़ाली पड़ा था ···· क्योंकि दर्शकों में से किसी के साथ भी मेरी आत्मीयता नहीं थी। फ़िल्म के चलते-चलते दो बार मैंने तुम्हारे अभाव को बहुत ही बुरी तरह अनुभव किया ···क्योंकि उस समय मैं अपनी भावना तुम्हारे साथ बांटना चहता था ··· उसमें से एक दो चीज़े तुम्हें दिखाना चाहता था ·· लेकिन उस समय मेरी उमंगें और उल्लास उदासी में बदल गया था ···· क्योंकि तुम साथ नहीं थी। इसी तरह उस दिन बाज़ार में मुझे तुम्हारा अभाव खटका था। लोग साथ मिलकर चल रहे थे और मैं अकेला था। वहां कितने ही सुन्दर चेहरे थे·····

लेकिन तुम से सुन्दर कोई न था कुछ लड़कियों का फ़ैशन मुझे बहुत अच्छा लगा मैं तम्हे उस फ़ैशन में देखना चहता था ...

इसी लिए तुम्हें उनका फ़ैशन दिखाना चहता था। बाज़ार में कुछ चीज़े मुझे बहुत अच्छी लगीं ...एक साड़ी बहुत पसन्द आई ... मेरे विचार में वह साड़ी तुम्हें बहुत ही फबती......... तुम उसे पहनकर बहुत सुन्दर लगती ...दूसरी चीज़ें भी ऐसी ही थीं जो मेरे विचार में तुम्हें बहुत शोभतीं। मैं वे चीज़ें तुम्हारे लिये लेना चहता था... ..

बाहर बारिश शायद थम गई है। अब तो ज़ोर की हवा चल रही है। नींद से कुछ आंखें भारी होने लगीं... तुम ...और क़रीब आओ न! और क़रीब!! तुम मुझ से दूर क्यों हो! तुम तुम यहां नहीं हो!!! तुम तो अभी मेरे पास बैठी थी! आशा!! तुम कहां हो! आशा! आशा तुम कहां हो! आशा तुम हमेशा मुझ से धोखा करती हो हमेशा मुझ से छल करती हो! तुम हमेशा मेरे साथ रहती हो लेकिन जैसे ही मैं तुम्हें पकड़ने लगता हु तुम छुप जाती हो! ज़रा सी आहट होती है तो मैं समझता हूँ तुम आ गई... लेकिन तुम्हारी यादों के सिवा कभी कुछ नहीं आया, कभी कुछ नहीं! तुम्हारा शरीर कभी नहीं आया और शायद कभी नहीं आएगा! तुम मरु-मरीचिका की भांति यों ही मुझे तड़पाती रहोगी! तुम तुम नहीं जानती तुम्हारे बिना मुझे हर जगह और हर दृश्य सूना लगता है। मैं तुम्हारी यादों का सहारा लेता हूं...लेकिन वह सपना भी शीघ्र ही टूट जाता है।

तुम हमेशा एकाकी में मुझे सताती रही...तड़पाती रही! उस दिन झील में मुझे ऐसे लगा था कि तुम मेरे साथ हो लेकिन तुम साथ

[सूनी-सूनी हर जगह

नहीं थी ! तुम वन-उपवन में भी मेरे साथ नहीं थी लेकिन तुम्हारी याादों ने एक पल के लिए भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा। प्रकृति के हर सुन्दर उपकरण ने मुझे तुम्हारी याद दिलाई लेकिन हर याद के बाद मुझे तुम्हारे अभाव का डंक सहना पड़ा। तुम नहीं जानती बाज़ार की या सिनेमा-हॉल की भीड़ में जब मैं अकेला था तो तुम्हारी कमी को कितनी शिद्दत से महसूस किया ! यात्रा करते समय इतने लोगों के बीच भी मैं स्वयं को अकेला - और तनहा पाता हूं। ओह हओ बैडली आई मिस यू। मैंने बाज़ार से साड़ी और दूसरी चीज़ें इसी लिए नहीं खरीदी थीं क्योंकि ख़रीदता किस के लिए ? मुझे मालूम है तुम कभी नहीं आओगी और वे चीज़ें मेरे पास यों ही पड़ी रहेंगी। मुझे मालूम है मेरी सब कल्पनाएं अधूरी हैं सब सपने अधूरे हैं ! आशा तुम केवल एक आशा-मात्र हो जो कभी पूरी नहीं होती...... तुम सपनों से भी परे और कल्पना से भी परे हो। तुम मेरी पकड़ में नहीं आती आशा ! तुम अति सूक्षम और अति विस्तृत हो ..... मैं तुम्हें पकड़ नहीं पाया..... मैं तुम्हें समेट नहीं पाया—मैं तुम्हें भूल भी नहीं पाया... आशा .....आशा ....

एक पल और....

आज वह मुझ से विदा हो रही है ! नहीं, मैं ही उस से विदा हो रहा हूं ! अभी गाड़ी चल देगी और मैं उससे दूर चला जाऊंगा। दूर—बहुत दूर और वह यहीं खड़ी-खड़ी दुनियां की भीड़ में खो जाएगी। कौन जाने फिर हमारी भेंट कहां और किस हालत में हो। कौन जाने फिर उससे भेंट होगी भी कि नहीं। इसी लिए इस समय उससे जुदा होने को मन नहीं चाहता। अभी गाड़ी चल पड़ेगी - लेकिन मैं चाहता हूं गाड़ी चले ही न—लेट हो जाए—इंजन में कोई खराबी पैदा हो जाए—ताकि मैं उसे एक बार जी भर कर देख लूं। उफ़ यह जी कहां भरता है ! जितना उसे देखता हूं मन की प्यास और बढ़ती जाती है—जुदाई के भय से मन की व्याकुलता और बढ़ती जाती हैं ! जी चाहता है लपक कर उसे अपनी बाहों में कस लूं और फिर कभी न छोड़ूं। उसे भी अपने साथ ले चलूं। आह ! कितने मज़े से कटे गा यह सफ़र यदि वह मेरे साथ हो। अच्छा साथी साथ होने से जीवन का सफ़र कितना मज़े से कटता है। लेकिन अब ! अब मेरा मन गाड़ी के डिब्बे से निकल-निकल कर बाहर को दौड़ेगा—पीछे को दौड़ेगा।

कितनी भली लगती है उसके चेहरे की मुस्कान। और फिर उसका बार-बार मुझे कनखियों से देखना—हम दोनों मुस्काने का असफल प्रयास कर रहे हैं ताकि हमारा अन्दर का रुदन छुपा रहे। हम अपने अश्रुओं पर हंसी का ढक्कन लगा रहे हैं। वह नज़रें चुरा-चुरा कर मेरी ओर देखती है—मैं भी बातें अपने रिश्तेदारों से कर रहा हूँ—लेकिन ध्यान मेरा उसकी तरफ़ है। मन चाहता है एक-दूसरे को देखते ही रहें—देखते ही रहें। लेकिन ऐसा हो नहीं सकता! बड़ी-से-बड़ी क़ीमत चुका कर भी ऐसा नहीं हो सकता!

मुझे मालूम था—पूर्ण आशा थी कि वह मुझे जरूर अलविदा कहने आएगी! और वह आ गई! वह एक स्तंभ की आड़ में खड़ी है—दुनियां की नज़रों से बचने के लिए। ओफ़ कितना मुझे दुःख होता यदि वह विदा करने न आती। मेरी आखें उसे गाड़ी चलने तक प्लेटफ़ार्म पर ढूंढ़ती रहतीं और मैं अन्तिम झलक देखने की हसरत साथ लिए चला जाता। अब वह आ गई है। अरे यह बिजली किधर कड़की! ओह गार्ड ने विसल दे दी! बस अभी गाड़ी चल पड़ेगी—अभी वह मुझ से दूर हो जाएगी – मेरे सामने मेरे देखते देखते उसे प्लेटफार्म मेरे हाथों से घसीट कर ले जाएगा। छीन कर ले जाएगा!

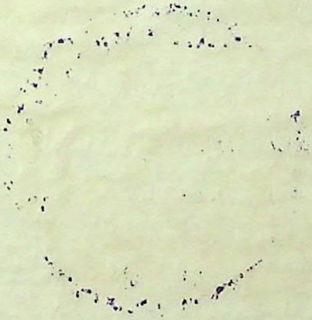
एक पल—केवल एक पल गाड़ी और रुकी रहे! हां, यों ही रुकी रहे कोई बहाना बन जाए—यह पल—एक पल—एक पल मैं समय को पकड़ सकूं—एक पल मैं उसे और देख लू ·· ओह! दूसरी विसल भी हो गई! अब क्या होगा! अब क्या सचमुच गाड़ी चल पड़ेगी सचमुच! सचमुच मैं उससे दूर चला जाऊंगा—क्या यह हमारी आख़िरी भेंट होगी! उफ़! यह मेरी गर्दन किसने दबा ली!

यह मेरी सारी आंतें किसने खींच लीं—मेरी जान किसने अपनी मुट्ठी में भींच ली! ओह! यह गाड़ी विसल दे रही है! नहीं, गाड़ी चिल्ला रही है! नहीं! यह मेरा मन चिल्ला रहा है - यह मेरी आत्मा की चीख है। रुक जा समय—एक पल के लिए रुक जा! यह हम दोनों की मिली जुली चीख है। अभी पांव तले से ज़मीन फिसलने लगेगी—मेरा दिल बैठा जा रहा है—काश कि गाड़ी थोड़ी देर के लिए लेट हो जाती!

यह लो! गाड़ी चल पड़ी! रोको—एक पल के लिए रोको! एक पल, केवल एक पल! एक पल के लिए मुझे उसे देखने दो—क्या यह समय रुक नहीं सकता। समय निश्चल क्यों नहीं हो जाता! काश कि सारी चीज़ें अपने स्थान पर रुक जाएं—सूर्य, चाँद, पृथ्वी सब एक पल अपने स्थान पर रुक जाएं—स्टेशन की गाड़ी, गार्ड की घड़ी और ड्राइवर की घड़ी रुक जाए—संसार भर की घड़ियां रुक जाएं—सृष्टि का सारा काम रुक जाए। ओह कुछ भी नहीं रुक रहा है सब कुछ चला जा रहा है—सब कुछ हाथ से छूटा जा रहा है।

गाड़ी कुछ तेज़ होने लगी है—प्लेटफार्म पीछे छूटता जा रहा है—वह मेरी आंखों से दूर सरकती जा रही है। लो उसके धैर्य का बान्ध भी टूट गया! वह आड़ से बाहर निकल आई है—लो उसने भी हाथ उठा लिया मुझे विदा कहने को। दर्जनों बाहों में उसकी बाँह भी झूल रही है—लो वह एक हाथ से अश्रु पोंछने लगी—यह, यह मेरे गालों पर गर्म पानी किसने गिरा दिया। लो वह मुझ से और दूर हो गई—भीड़ में खड़ी उसकी आकृति धुंधली पड़ती जा रही है—वह मुझ से बिछुड़ रही है! नहीं! नहीं!! यह क्या! वह प्लेट-फार्म घूमने लगा—यह मेरा दिल—नाचता बहता जा रहा है—यह

पृथ्वी आकाश सब कुछ घूमने लगा—यह मुझ पर हथौड़े कौन चला रहा है……धक…धक धक। अरे यह तो मेरे दिल की ही धड़कन है। ओह यह शोर कैसा। मेरे कान फटे जा रहे हैं—मैं…मुझे संभालो मैं गया—मुझे कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा—कुछ स्पष्ट सुनाई नही दे रहा…मैं मैं ‥कहां जा रहा हूं…अल अलविदा…सु‥ अलविदा …यह…यह अन्धकार कैसा! मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा ‥ कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा…ओह एक पल और‥ नहीं मिला …!!



लेखक की अन्य रचनाएं :—

1. "पगडंडियां दे भुलेखे" :—पंजाबी कहानी संग्रह
(ललित कला संस्कृति और साहित्य अकादमी जम्मू-कश्मीर द्वारा पुरस्कृत) लोक साहित्य प्रकाशन अमृतसर

2. "इन्सानियत मरी नहीं" :—पंजाबी कहानी संग्रह (छप रहा है)

3. "परतें" :—हिन्दी उपन्यास (छप रहा है)